भारतीय संस्कृति का इतिहास

भगवद्दत्त

भारतीय संस्कृति का इतिहास

भारतीय संस्कृति का इतिहास

(विशुद्ध भारतीय-परम्परा के आधार पर)

लेखक

भगवद्दत्त

प्रकाशक

गोविन्दराम हासानन्द

नई सड़क, दिल्ली-६

प्रकाशक :
गोविन्दराम हासानन्द
नई सड़क, दिल्ली-६

प्रथम मुद्रण सं० २०२२

मूल्य : [illegible] संशोधित मूल्य
7/-

मुद्रक :
बदलिया प्रिंटिंग प्रेस,
दाई वाड़ा, नई सड़क, दिल्ली-६
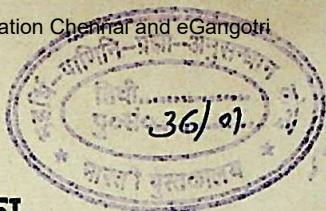
भूमिका

भारतीय सरकार के इण्डियन एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस (I. A. S.) ट्रेनिंग स्कूल में पाँच वर्ष तक मुझे भारतीय-संस्कृति पर व्याख्यान देने का अवसर मिला। अगले पृष्ठ उन्हीं व्याख्यानों का हिन्दी में संक्षेप हैं। चिर-काल से मेरा अनुभव हो रहा था कि योरोपीय लेखकों ने भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास का जो कलेवर खड़ा किया है, वह तर्क,विज्ञान और यथार्थ-इतिहास की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता। अतः मैंने परम्परागत सर्वस्वीकृत-काल-क्रमानुसार भारतीय इतिहास और उसके विभिन्न अङ्गों का पढ़ना आरम्भ कर दिया। गत चालीस वर्ष के अविश्रान्त-परिश्रम ने इसी मार्ग को ठीक पाया। फलतः यह इतिहास उसी मार्ग पर चलकर लिखा गया है। निश्चय ही भारतीय-विद्वान् अति प्राचीन काल से अपना इतिहास लिखते और सुरक्षित करते रहे हैं। केवल मुसलमानी-शासन के दिनों में यह परम्परा कुछ उच्छिन्न हुई।

I. A S. स्कूल में पढ़ने वाले योग्य छात्र, और विशेष कर फारेन सर्विस के छात्र प्रति वर्ष यही कहते थे कि भारतीय-संस्कृति विषयक-योरोपीय विचार वे अंग्रेजी पुस्तकों में थोड़ा-बहुत पढ़ चुके हैं। संसार के विभिन्न देशों के लोग [illegible]तावासों के उन से पूर्ववर्ती सज्जनों से प्रश्न करते रहते हैं कि इस विषय पर [illegible]तीय-मत बताओ, अतः भारतीय पक्ष का ज्ञान उनके लिए परम आव-[illegible] हो गया है।

वस्तुतः भारतीय छात्रों को भारतीय-परम्परा का ज्ञान भूल-सा रहा है, [illegible]ः उसका पुनर्जीवन आवश्यक है। फिर भी योरोपीय लेखकों द्वारा कल्पित [illegible]तिथियाँ और तद्विषयक उन के विचार भी मैंने यत्र-तत्र लिख दिए हैं। और कहीं-कहीं भारतीय-परम्परा को पुष्ट करने वाले तर्क भी दे दिये हैं।

इस इतिहास में भूमि-सृजन से आरम्भ करके उत्तरोत्तर-युगों के क्रम से घटनाओं का उल्लेख है। यह क्रम बनावटी नहीं, यथार्थ है। भारतीय संस्कृति इसके बिना समझ ही नहीं आ सकती। इन पृष्ठों में दी गई काल-गणना आदि के प्रमाण मद्रचित वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास तथा भाषा का इतिहास में मिलेंगे।

इस इतिहास के पहले सताईस अध्यायों में जो कुछ लिखा गया है, उस का अधिकांश भाग प्राचीन लेखों का अनुवादमात्र है। मैंने अपनी ओर से लिखने

का प्रयास बहुत थोड़ा किया है। अनेक स्थानों पर प्रत्येक वाक्य के लिए मूल ग्रन्थों के प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं। पर ग्रन्थ के अधिक विस्तृत होने के भय से ऐसा किया नहीं गया। अर्वाचीन कालों और विचार धाराओं का इतिहास भी सप्रमाण ही है।

कला-विषयक सताईसवें अध्याय में पूर्व-लिखित कुछ बातें स्वल्प विस्तार से दोहराई गई हैं, ऐसा करना आवश्यक था।

अति विस्तृत विषय को यहाँ थोड़े स्थान में ही लिपिबद्ध किया गया है। अतः यह पुस्तक भारतीय संस्कृति का दिग्दर्शन-मात्र है। इसे पढ़कर साधारण छात्र और विद्वान् दोनों लाभ उठा सकेंगे।

मैं श्री बापट जी प्रिंसिपल और श्री जे. डी. शुक्ल जी I. C. S. उप-प्रिंसिपल का हार्दिक धन्यवाद करता हूँ, जिन की कृपा से मैं I. A. S. श्रेणिय में व्याख्यान देता रहा, और इस विषय का विस्तृत अध्ययन कर पाया।

पूर्वलिखित पंक्तियाँ, रविवार ९-१०-५५ को लिखी गई थीं। उस सम इस ग्रन्थ का संक्षिप्त पूर्वरूप प्रकाशित होने वाला था, पर कारणविशेष से वह प्रकाशित नहीं हुआ। अब श्री गोविन्दराम हासानन्द दूकान के स्वामी श्री विजयकुमार जी ने मुझे बाध्य किया मैं इसे प्रकाशित कराऊँ। मैंने कहा कि ग्रन्थ परिमार्जन और परिवर्धन आवश्यक हो गया है। उन्होंने यह स्वी कर लिय. तदनुसार ग्रन्थ का पर्याप्त भाग दोबारा लिखा गया और कई नए अध्याय जोड़े गए।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में आर्य संस्कृति के अनन्य उपासक पूज्य श्री नारायण स्वामी जी का महान् योगदान है। उनका सतत प्रोत्साहन और स्वच्छ स्नेह मेरा मार्ग विस्तृत करता है। गत दो वर्ष में यह तीसरा ग्रन्थ है, जिसमें उनका सहयोग प्राप्त हुआ है।

डालमिया दादरी सीमेंट के प्रमुख प्रबन्धक श्री राजेश्वर जी भी वैदिक विज्ञान के प्रति मेरा उत्साह बढ़ाते हैं इन सब का मैं आभारी हूँ।

यह ग्रन्थ भारत के प्रधान मन्त्री श्री लाल बहादुर शास्त्री जी के शासन-काल में प्रकाशित हो रहा है। उनके नेतृत्व में अभी सात दिन हुए, जब भारत ने पाकिस्तान के छल, कपट के युद्ध के ऊपर एक महान विजय प्राप्त किया है। पर उस छल के घोर मेघ अभी छाए हुए हैं।

२९-९-६५

भगवद्दत्त

विषय-सूची

भारतीय संस्कृति का इतिहास

प्रथम अध्याय

भूमि सृजन[1]

१. अवान्तर प्रलय, प्रलय और महाप्रलय अपने समय पर यथापूर्व होते रहते हैं। इनका चक्र अनादि काल से चला आता है। महाप्रलय में सब तत्त्व क्रमशः लीन होकर एकमात्र प्रकृति रह जाती है।

२. महारात्रि रूपी महाप्रलय के पश्चात् महाभूतोत्पत्ति हो चुकी थी। उसमें आपः प्रधान हुईं। वह इनकी एकार्णवा अवस्था थी। उसे अर्णव-समुद्र भी कहा है। उसे सलिलावस्था भी कहा है। उसमें महाभूतों से महदण्ड बना। कालान्तर में उसमें अग्नि का प्रभाव बढ़ा। महदण्ड हैम-वर्ण हो गया। उसकी संज्ञा हिरण्यगर्भ, प्रजापति अथवा पुरुष हुई। वह पुरुष अति सूक्ष्म, स्यन्दन-रहित-आपः में चक्र काटने लगा। तब महान् आत्मा ने ध्यान किया। उस ध्यान-बल और वायु के साहाय्य से प्रजापति का स्वल्प सा अधोभाग पृथक् हो गया। वह भूमि बनी।

३. **भूमि की प्राथमिक अवस्था**—आरम्भ में भूमि सलिलावस्था में थी। तदनु सलिल में काई बनी। अग्नि और मारुतयोग से इसमें घनत्व बढ़ा[2], पर भूमि तब सर्वथा आर्द्रा और शिथिला थी। वह ठोस हो रही थी। जब वायु का महान् प्रकोप होता था और वायु-प्रवाह अत्यन्त वेग से एक ओर से दूसरी ओर जाता था, तो शिथिला भूमि को भी अपने साथ बहाता था। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार समुद्र की लहर आगे-आगे जाती है।

४. **सूर्य-चन्द्र-ग्रह**—महदण्ड का उपरि-भाग एक बड़ा सूर्य बन रहा था। उससे ग्रह और नक्षत्र निकल रहे थे। चन्द्र का पूर्वरूप बन गया था।

५. **वृत्र**—उस समय एक महामेघ उत्पन्न हुआ। उसे वृत्र, वृत्रासुर, और महामेघ कहा है। इन्द्र अर्थात् वैद्युत् की ज्योति और वायु की शक्ति ने उस महामेघ का नाश किया।

६. **भूमि ठोस हुई**—कालान्तर में आर्द्रा भूमि में सिकता अर्थात् रेत-कण उपजे। रेत के पश्चात् शर्करा अथवा कंकर बने। कंकरों के कारण भूमि का उपरि भाग अधिक ठोस होने लगा। भूमि की वह अवस्था दही-समान थी।

---

१. अगला वर्णन मन्त्रों और ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है।

२. शान्ति पर्व १८१। १५॥

अर्थात् कुछ ढीली भूमि के ऊपर ठोस रूप का सिक्कड़ बनने लगा।

कंकरों से पत्थर बनने लगे। पत्थरों से टीले और पर्वत बने। पहले पर्वत भी शिथिल भूमि में इधर-उधर खिसकते थे। अब शीत बढ़ा। भूमि और अधिक ठोस होने लगी। पर्वत स्थिर हुए।

७. द्यौ और भूमि सामीप्य—ये सब सूर्य, चन्द्र, ग्रह और नक्षत्र अभी भूमि से दूर-दूर नहीं हुए थे। पृथ्वी और सूर्य शनैः शनैः दूर हुए। मध्य में अन्तरिक्ष बनता गया। अग्नि और वायु आदि के बल से ये दूरियाँ स्थिर हुईं।

८. भूमि प्रथन—इन्द्र और सूर्य आदि के बल से अल्पा भूमि फैलने लगी। तब से इस का नाम पृथ्वी हुआ।

९. लोक परिभ्रमण—पृथिवी, चन्द्र, ग्रह और सूर्य आदि पहले अपनी-अपनी राशि में चक्र काट रहे थे। प्रत्येक नये ग्रह के जन्म पर इस भ्रमण में परिवर्तन होने लगा। अन्त में इन सबकी गति वैसी हो गई, जैसी सम्प्रति है।[1] पहले रात ही रात थी। कई स्थानों पर दिन ही दिन था। अब दिन और रात का प्रादुर्भाव हुआ।

१०. ओषधि जन्म—पूर्वोक्त मेघ फैलने लगा। उसका विस्तार भूमि से द्यु-लोक के परे तक हो गया। यह एक भय और आश्चर्य की घटना थी। द्यु-लोक में आपः का सार जो सोम था, वह इसी मेघ द्वारा भूमि पर उतरा। वह सोम चन्द्र में भी पहुँचा। भूमि पर ओषधि-जन्म में उस वृत्र के अंशों का सहयोग है। भूमि उर्वरा होने योग्य हो गई। चन्द्र शीतल और ज्योत्स्ना-युक्त हो गया। वृत्र-वध के उत्तरकाल से उस महामेघ के अनेक भाग अब भी ब्रह्माण्ड में हैं। इन्हें अंग्रेजी में नैबूला कहते हैं। नैबूला लेटिन भाषा का शब्द है। वहाँ इसका मूलार्थ मेघ ही है।

पृथिवी और सोम के योग से भूमि पर प्रथम बीज उत्पन्न हुए। ओषधियाँ उगने लगीं। अधिकाँश पृथिवी श्यामला हो गई।

११. पृथिवी में दरार—कभी सूर्य की अङ्गिरा नामक रश्मियों को सारी पृथिवी मिल गई। पार्थिव अग्नि ने इन रश्मियों को तपाया। वे बाहर जाने लगीं। पृथिवी ने सिंही के समान अंगड़ाइयाँ लीं। उनके फलस्वरूप पृथिवी में दरार हो गए। उससे पूर्व पृथिवी समतला थी।[2]

पृथिवी पर नदियाँ भी बन रही थीं जंगल भी बनने लगे। पर्वतों को काटती हुई नदियाँ नए-नए मार्ग बनाने लगीं।

---

१. जैमिनीय ब्राह्मण १।१४६॥
२. ऐ० ब्रा० ३०।६॥

दूसरा अध्याय

कृत युग

१२. मानव का प्रादुर्भाव—ओषधि-जन्म के बहुत काल पश्चात् पृथ्वी पर मनुष्य उत्पन्न हुआ। आदि के मनुष्यों में ब्रह्मा (=आदम), भृगु, अङ्गिरा आदि सप्तर्षि बहुत प्रसिद्ध हैं। इन्हीं के नाम पर भारतीय गोत्र चले। विशिष्ट देवियों के नाम अभी अज्ञात हैं। तब मानव सृष्टि का विस्तार होने लगा। इक्कीस प्रजापति इन्हीं दिनों में थे। उन में से कश्यप और दक्ष बहुत प्रसिद्ध हैं। धीरे-धीरे पृथ्वी पर मनुष्य फैलने लगा।

१३. महान् आत्मा और ऋषि—विकास मतानुयायी आदि-मानव को सर्वथा असभ्य मानते हैं। भारतीय परम्परा ऐसा नहीं कहती। ब्रह्मा, स्वायंभुव मनु, सप्तर्षियों में भृगु, अङ्गिरा और अत्रि (अरबी भाषा में इद्रीस) आदि, तथा प्रजापतियों में कश्यप और दक्ष आदि महान् विद्वान् थे। वे ऋषि थे। स्वयमागत-विज्ञान थे। रजोगुण और तमोगुण से रहित होने के कारण उनका महान्-आत्मा से साक्षात् सतत् सम्बन्ध था। वे साक्षात् कृतधर्मा थे।

१४. विकासमत ईश्वर, सर्वव्यापक मन अथवा महान् आत्मा को नहीं मानता। अतः उसे भूतों का परिणाम स्वयं उद्भुत् और सभ्यता का विकास धीरे-धीरे मानना पड़ता है। इस के विपरीत महान् आत्मा का अस्तित्व मानने वाले आदि-मनुष्य को उत्कृष्ट ज्ञान वाला मानते हैं। इतिहास भी इसी दूसरे आत्म-वादी सिद्धान्त का पोषक है।

१५. नगर और ग्रामों का अभाव—पर एक बात में दोनों विचार वाले सहमत हैं। पहले ग्राम आदि नहीं थे। भारतीय परम्परा में कहा है कि आदि-मानव वृक्षों के नीचे, अथवा महान् वृक्षों के कोटरों में रहता था। उस समय के वृक्ष अति विशाल थे। आज भी कोले की खानों में कहीं-कहीं १५०-२०० गज ऊँचे वृक्षों के अवशेष मिले हैं।

तब सोना, चान्दी, ताम्र, लोहा आदि धातुएँ खानों से निकाली नहीं गई थीं। आदि-मनुष्य को इन की इतनी आवश्यकता ही न थी। उस समय नगर और ग्रामों का अभाव था। गृह-निर्माण न था।

१६. अकृष्ट-पच्या भूमि—उस समय भूमि अकृष्ट-पच्या अर्थात् विना हल चलाये अन्न आदि देती थी। वृक्षों पर फल बहुत अधिक था। पत्रों और फूलों

से मधु निकलता था। मानव फल और कुछ अन्न खा लेता था। दूध पीने का प्रचार अभी विस्तार नहीं पकड़ पाया था।

गौएँ जंगलों में फिरती थीं। मनुष्य इन्हें पकड़ कर दूध दोहना आरम्भ कर रहे थे। गो-पालन का प्रकार प्रचलित नहीं हुआ था। इसका कारण यह भी था कि न घर थे न ग्राम वा नगर।

घोड़े पाले नहीं जाते थे। व्यापार भी नहीं था। ग्रामों के अभाव में पथ-निर्माण भी नहीं हुआ था। मनुष्य थोड़े और जीवन-निर्वाह की सामग्री प्रभूत थी।

१७. राज्य अभाव—कृतयुग की उस प्रथमावस्था में संसार भर में कोई राज्य नहीं था। कारण, लोग धर्मात्मा और निर्लोभ थे। दण्ड का सर्वथा अभाव था। धर्मानुकूल चलने वाले संसार में शासन की आवश्यकता न थी।

१८. मनुष्य निरामिष—पृथ्वी पर अन्न, फल, फूल, कन्द, मूल अत्यधिक थे। नर-संख्या थी अतिन्यून। अतः नर निरामिष था। यह तथ्य इस्लामी और यहूदी पुरातन ग्रन्थों में भी लिखा है।[१]

---

१. देखो, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, द्वि० सं० भाग १, पृ० २१०, २११।

तीसरा अध्याय

आर्य और भारतवर्ष

१९. प्रदेश-विभाग—मनुष्य सृष्टि की वृद्धि होने पर भूमि का प्रदेशों में विभाग हुआ। स्वायंभुव मनु की सन्तान में भरत नामक, एक यशस्वी पुरुष थे। उनके नाम पर, जम्बूद्वीप के अन्तर्गत इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। शाकुन्तल भरत अथवा दाशरथी भरत का इस भरत से सम्बन्ध नहीं है। जम्बू-द्वीप के परे शकद्वीप और शाल्मलि द्वीप आदि अन्य द्वीप थे। इनमें क्षत्रिय जातियाँ वसती थीं। भारतीय आर्य लोग अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि आरम्भ से ही भारतवर्ष में रहते हैं।

२०. आर्य-भूमि, भारत—महाभारत, भीष्मपर्व के आरम्भ में एक अत्यन्त रोचक प्रकरण है। नेत्र-हीन धृतराष्ट्र संजय से पूछता है। युद्ध में भाग लेने वाली ये सेनाएँ कहाँ-कहाँ से आई हैं। जो यह भारत है, जिस के क्षत्रियों ने युद्ध में भाग लेना है, वह कैसा और कितने विस्तार वाला है।

उत्तर में संजय कहता है। हे भारत! अब मैं भारतवर्ष का वर्णन करता हूँ। यह देश देव-इन्द्र का प्रिय देश था। यही देश इन्द्र के भ्राता विवस्वान् के पुत्र मनु का प्यारा देश था।[1] आदि राजा पृथुवैन्य का भी यही देश था। महात्मा इक्ष्वाकु, ययाति, अम्बरीष, मान्धाता तथा नहुष आदि का भी यही देश था। उशीनर और शिवि आदि का भी यही प्यारा देश था।

आर्य लोग आरम्भ से ही अपने देश से प्यार करने वाले रहे हैं। वे इसी देश के वासी थे। उन्हीं की संस्कृति की यह तेजिस्वनी ज्योतिर्मयी गाथा लिखी जा रही है।

२१. वर्तमान विदेशी लेखकों का मत—अनेक विदेशी ईसाई लेखकों ने यह मत प्रतिपादित किया है कि आर्य लोग बाहर से यहाँ आए। उन्होंने इस मत का पोषक कोई विशेष तर्क नहीं दिया। भाषा विज्ञान का नाम ले कर इधर-उधर की बातें कही अवश्य हैं। उनका मत महाभारत के पूर्वोक्त प्रमाण और निम्नलिखित कारणों से अमान्य है।

२२. इस मत की अमान्यता में हेतु

(क) किसी प्राचीन प्रामाणिक भारतीय ग्रन्थ में ऐसी बात नहीं लिखी।

---

१. भगवद्गीता ४। १ में भी इसी वैवस्वत मनु का उल्लेख है।

पुराण, महाभारत, ब्राह्मणग्रन्थ और रामायण आदि में इस पक्ष का गन्धमात्र भी नहीं है। तद्विपरीत सम्पूर्ण ग्रन्थ एक मत हो कर भारत को ही आर्यों की पवित्र भूमि मानते हैं।

मुनि कात्यायन (विक्रम पूर्व २८०० वर्ष) अपने याजुष ग्रन्थ प्रतिज्ञा-परिशिष्ट में लिखता है कि ब्राह्मण का मूल-स्थान भारत का मध्य देश है।

(ख) यवन राजदूत मैगस्थ-नेज़ (विक्रम से २५० वर्ष पूर्व) लिखता है—भारत अनगिनत और विभिन्नि जातियों से बसा हुआ है। इनमें से एक भी मूल में विदेशीय नहीं थी, प्रत्युत स्पष्ट ही सारी इसी देश की थीं। इति।

यही नहीं, वह यह भी सूचित करता है कि भारतीय गणना के अनुसार भारत पर बेक्कस अथवा डायोनिसीयस (=विप्रचत्ति दानवासुर) के आक्रमण से लेकर उसके काल तक ६०४२ वर्ष और १५३ राजा हो चुके हैं।

आर्य लोग तब से भारत में अवश्य ही थे।

(ग) भारत के अनेक नगरों, ग्रामों और देशों के नाम पुराने आर्य महापुरुषों और राजाओं के नामों पर रखे गये थे। यथा—भरत के नाम पर भारत-वर्ष। ब्रह्मा के नाम पर ब्रह्मावर्त। मनु-पौत्र आनर्त के नाम पर आनर्त-देश (गुजरात का एक भाग)। कुशाम्ब के नाम पर कौशाम्बी (वर्तमान कोसम) नगरी। विदर्भ के नाम पर वैदर्भ देश। उशीनर के नाम पर उशीनर कोट (वर्तमान शोरकोट)। महाराज कुरु के नाम पर कुरु देश। महाराज हस्तिन के नाम पर हस्तिना-पुर। वत्स के नाम पर वत्स देश। महाराज अवन्त के नाम पर अवन्ति देश, इत्यादि। अङ्ग, वङ्ग आदि नाम भी ऐसे ही हैं।

अब यदि ईसा से १०००—१५००[१] अथवा २००० वर्ष पूर्व आर्यों का भारत में आना माना जाए, जैसा ये ईसाई लोग और उनके चेले कहते हैं, तो आर्यों का सारा पुराना इतिहास असत्य ठहरता है। भारत का इतिहास लिखने वाले पाश्चात्यों ने तो बहुधा श्री राम का अस्तित्व भी सन्देहास्पद बनाने का यत्न किया है। यह बात विश्वास-योग्य नहीं ठहरती। सत्यवक्ता आर्य ऋषि मुनि सब एक समान अनृत लिखें, यह स्वप्न से भी परे है। अतः विदेशी पक्ष कोरी गप्प है।

जिन महापुरुषों के नाम पर यहाँ के नगरों और ग्रामों आदि के नाम पड़े, वे यहीं के निवासी थे और उनका इतिहास विक्रम से सात-आठ सहस्र वर्ष पूर्व से भी कहीं पुराना है।

---

१. डा० सुनीति कुमार चटोपाध्याय, भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० ५६, १६०।

(घ) संस्कृत में एक-एक नाम शब्द के बहुत-बहुत पर्याय हैं। इस प्रकार के पर्यायों के एक-एक दो-दो अपभ्रंश ही अन्य जातियों के पास हैं। संस्कृत-समान पर्याय-बाहुल्य अन्यत्र नहीं है। यथा—

I. संस्कृत में, अश्व, घोटक, और कावा तीन पर्याय हैं। तथा संस्कृत में एक क्रिया-रूप ह्रेषते है।

अश्व से फारसी में अस्प, घोटक से हिन्दी पंजाबी आदि में घोड़ा, कावा से लैटिन में caballinus अथवा caballus तथा अंग्रेजी में caballine (कबालिन), बिगड़े हैं। ह्रेषते क्रिया से अंग्रेजी में horse (हार्स) तथा पुरानी ऊँची जर्मन में hross (ह्रास) बना है।[1]

II. इसी प्रकार संस्कृत में उष्ट्र, क्रमेल अथवा क्रमेलक शब्द लगभग समानार्थक हैं।

उष्ट्र से फारसी में उशतर, तथा पंजाबी और बंगला में उट्ठ और हिन्दी में ऊँट; क्रमेल से ग्रीक में केमेलोस, अंग्रेज़ी में कैमल, इब्रानी में जमल और अरबी गमल विकृत हुए हैं।

अब इसका सीधा अर्थ है कि आर्यों की मूल भाषा संस्कृत अति शुद्ध, बहु-पर्याय-युक्त और कभी पृथ्वी-मात्र पर व्यापक थी। अंग्रेजी, जर्मन, लैटिन, ग्रीक, अरबी और इब्रानी आदि भाषाएँ उसी भाषा के सीधे अथवा परम्परागत अपभ्रंश हैं। शक्ति के ह्रास और ज्ञान की अल्पता के कारण उन्होंने मूलभाषा के एक-एक, दो-दो शब्द ही सुरक्षित रखे हैं।

पर यदि कहा जाय कि आर्य बाहर से भारत में आए, तो कहना पड़ेगा कि अपने किसी मूल स्थान से चल कर वे प्रत्येक उस जाति के साथ कुछ काल तक रहे, कि जिसकी भाषा में संस्कृत की प्रकृति का अपभ्रंश और यदि यह न मानो, तो संस्कृत से मिलता-जुलता शब्द विद्यमान था। तभी वे दूसरी जातियों से ये शब्द ले सके। अथवा एक अनुमान यह भी हो सकता है कि आज से तीन-चार सहस्र वर्ष पूर्व संसार की अनेक जातियों के लोग भारत से व्यापार सम्बन्ध रखने के कारण, भारत-यात्रा किया करते थे। वे अपने शब्द संस्कृत को दे गये।

ये सब अनुमान कल्पनायें हैं और हैं भी इतिहास-विरुद्ध। अतः आर्य बाहर से आए, और आए भी ईसा से २००० वर्ष पूर्व, यह पक्ष संस्कृत में

---

१. संस्कृत अरुषः से भी ह्रास = hross और जर्मन ross विकृत हो सकता है। अ को बहुधा ह हुआ है।

पर्याय-बाहुल्यता के प्रश्न का सन्तोष-जनक उत्तर नहीं दे सकता।

(ङ) योरोप की भाषाओं में टवर्ग का अभाव सा है। पर आर्यों के मूल ग्रन्थ वेद में टवर्ग का बहुधा प्रयोग हुआ है। वेद को पूर्वपक्षी भारोपीय ग्रन्थ कहते हैं। वे यह भी कहते हैं कि भारत आने तक आर्य लोग टवर्ग नहीं जानते थे। टवर्ग का प्रयोग आर्यों ने द्राविड़ों से सीखा और वेद भारत आने के पीछे बना यदि यह बात मानी जाय, तो वेद भारोपीय ग्रन्थ न रह कर द्राविड़ प्रभाव का ग्रन्थ बन जाता है।

इस पर आपत्ति यह है कि ऋग्वेद पर द्राविड़ प्रभाव सिद्ध करने के लिए कोई अन्य युक्ति अपेक्षित है। परम्परा को अत्यन्त सुरक्षित रखने वाले, उच्चारण और भाषा-शुद्धि पर चरम सीमा का बल देने वाले आर्य ऋषि और ब्राह्मण अपनी वाक् को कलुषित करें, ऐसी गप्प मतान्ध लोग ही हाँक सकते हैं।

और पूर्व पक्षी के लिए एक और भयानक आपत्ति है। पारसी धर्म-पुस्तक अवेस्ता में ऋग्वेद के मन्त्र का एक अंश अब भी उपलब्ध होता है। वह वेद से पारसी ग्रन्थ वालों ने लिया है। अतः वेद पारसियों के पास था, और द्राविड़-प्रभाव से पूर्व था। अतः निश्चित है कि वेद में आरम्भ से टवर्ग था और योरोपीय जातियों ने अशक्ति से उसका प्रयोग न्यून किया अथवा त्यागा। आर्य बाहर से नहीं आए, पर वेद ही सर्वत्र था।

(च) भारतीय परम्परा के अनुसार भारत के उत्तर-पश्चिम और पूर्व के देश बहुत पूर्वकाल में म्लेच्छ हो गये थे। भारतीय देशों में वाहीक (पंजाब के अबोहर, मिण्टगुमरी, हड़प्पा आदि विषय) तथा गुजरात और दक्षिण के अनेक भाग (कारस्कर आदि) संस्कार-हीन और अति शूद्र हो गये थे। म्लेच्छ और संस्कार-हीन लोग अपभ्रंश भाषायें बोलने लग पड़े थे। आर्यों ने अपनी भाषा सदा पवित्र रखी। म्लेच्छ शब्द का अर्थ ही अपभ्रंश बोलने वाला है। आर्य लोग पश्चिम के उन म्लेच्छ देशों से शुद्ध भाषा लेकर भारत में आए, यह कथन वदतो व्याघात है। अतः आर्य भारत के ही वासी थे। उनकी भाषा कभी संसार पर फैली हुई थी। उसी का अपभ्रंश संसार की अनेक भाषाएँ हैं। निस्सन्देह आर्य भारत के ही वासी हैं।

(छ) आर्यों के सब धर्म और तीर्थ स्थान भारत में हैं। यदि आर्य बाहर से आए होते तो वे अपने मूल देश के तीर्थ-स्थान स्मरण रखते। और वे यात्रार्थ वहाँ कभी-कभी जाया करते। इसके ठीक विपरीत पिछले ३००० वर्ष में आर्यों ने सिन्धु के पार जाना ही अधर्म माना। यह स्पष्ट प्रमाण है कि

आर्यों की आदि भूमि भारत ही थी। वे कहीं से मार खा कर भारत में नहीं आए थे।

इन सात संक्षिप्त तर्कों और आठवें महाभारत के पूर्वोद्धृत प्रमाण से निश्चय होता है कि गङ्गा-यमुना से प्लावित, शस्यश्यामला भारत-भूमि ही आर्यों की आदि भूमि है। इसीलिए महाभारत में कहा है कि यह भूमि इन्द्र, मनु, इक्ष्वाकु आदि को प्रिया थी।

चौथा अध्याय

कृतयुग का आदि काल

उपदेश युग

२३. हम ब्रह्मा का उल्लेख कर आए हैं। इन ब्रह्माजी और आदि ऋषियों ने वेदों के मन्त्रों का प्रथम उपदेश किया। आर्य इतिहासानुसार वेद की भाषा कभी साधारण बोल-चाल की भाषा नहीं रही। योरोपीय ईसाई लेखकों ने ऐसा मत चलाने का यत्न किया अवश्य है, पर वे इस कठिनाई का उत्तर नहीं दे सके कि जब लोक-भाषा संस्कृत में ग्रन्थ लिखने वाले और वेद का उपदेश देने वाले ऋषि एक ही थे, तो वेद-वाक् और लोक-भाषा समकाल से क्यों नहीं हैं। प्राचीन आर्य वाङ्मय में इस द्रष्ट्रि-प्रवक्त्री सामान्यता का वर्णन मिलता है। न्याय-भाष्यकार सदृश तार्किक मुनि विष्णुगुप्त वात्स्यायन का यही कथन है। छान्दोग्य उपनिषद् के प्रवचन-कर्ता का भी यही सिद्धान्त है।

वेद

२४. **प्रथम उपदेश**—ऊपर लिखा गया है कि प्रथम उपदेश वेद का था। सम्प्रति चार वेद-संहिताएँ सर्वत्र उपलब्ध हैं। नाम हैं इनके, ऋक्, यजु, साम और अथर्व। भारत-युद्ध-काल के समीप वेदों की ११३१ शाखाएँ थीं। इस समय ऋग्वेद की तीन—शाकल, बाष्कल और शांखायन, यजु की छः—माध्यन्दिन, काण्व, मैत्रायणी, काठक, तैत्तिरीय और कपिष्ठल, साम की तीन—कौथुमी, राणायनीय और जैमिनि और अथर्व की दो शाखाएँ शौनक और पैप्पलाद मिलती हैं।

२५. **कृष्ण द्वैपायन वेद-व्यास**—वेदों की अनेक शाखाओं का प्रवचन वेद-व्यास और उन के चार शिष्यों और प्रशिष्यों ने किया। वेद-व्यास महाभारत युद्ध के समय जीवित थे। भारतीय परम्परा के अनुसार इस बात को लगभग ५१०० वर्ष हो गये। व्यास-शिष्यों के नाम थे—सुमन्तु, जैमिनि, वैशम्पायन और पैल।

२६. **अपान्तरतमा**—पर सारी शाखाएँ उसी समय नहीं बनीं। कृतयुग के अन्त में अपान्तरतमा नाम के एक महान् ऋषि थे। उन के काल से वेद-शाखा-प्रवचन आरम्भ हो गया था। इसकी समाप्ति भारत-युद्ध-काल के समय हो गई।

२७. वेदों की मन्त्र-संख्या—ऋग्वेद में १० मण्डल, १०२८ सूक्त और लगभग १०,५०० मन्त्र हैं। यजुओं के दो भेद, शुक्ल और कृष्ण इस समय प्रसिद्ध हैं। शुक्ल में मन्त्र-संख्या लगभग २००० सहस्र है। साम की मन्त्र संख्या १६०० से कुछ अधिक है। अथर्व की मन्त्र संख्या लगभग ६००० है।

२८. श्रुति—आदि में केवल चार वेद थे। इनको श्रुति भी कहते हैं। आदि ऋषियों ने जो ज्ञान योगज शक्ति से सुना, वह श्रुति हुआ।

ये श्रुतियाँ छन्दो रूप में हैं। और ये छन्द पृथ्वी पर मानव की उत्पत्ति से पहले भी द्यौ, अन्तरिक्ष और सूर्य में अपना वैभव दिखा रहे थे। उन्हें ही मानव ऋषियों ने सुना।

यह श्रुति परम प्रमाण है, इसलिए इसे निगम कहते हैं।

२९. ब्रह्मा द्वारा अन्य विद्याओं का उपदेश—वेद के पश्चात् महर्षि ब्रह्मा ने अनेक विद्याओं का उपदेश लोक-भाषा में दिया। उनमें से कतिपय विद्याओं के नाम नीचे दिए जाते हैं।

१. ब्रह्मा ने संसार को **योग ज्ञान** का उपदेश दिया। यह ज्ञान एक लाख श्लोक की हिरण्यगर्भ-संहिता में उपनिबद्ध है।

२. ब्रह्मा ने **आयुर्वेद** का श्लोक-शतसाहस्र में उपदेश किया है।

३. **हस्त्यायुर्वेद** का ज्ञान भी भगवान् ब्रह्मा ने दिया। दशरथ-कालीन पालकाप्य मुनि ने अपने हस्ति-शास्त्र में उसका उल्लेख किया है।

४. पाण्डव नकुल अपने अश्वशास्त्र में लिखता है कि आदि में ब्रह्मा ने १,२५,००० श्लोकों में **अश्ववेद** कहा।

५. **नाट्यवेद** का आदि उपदेश-कर्त्ता भी ब्रह्मा ही था।

६. **वास्तु शास्त्र,** ७. **शिल्प शास्त्र,** ८. **धर्म शास्त्र,** ९. **अर्थ शास्त्र,** १०. **दण्ड नीति,** ११. **गणित,** और १२. **ज्योतिष शास्त्र** आदि का प्रथम उपदेश-कर्त्ता ब्रह्मा ही था। १३. सृष्टि-उत्पत्ति और प्रलय आदि का ज्ञान देने वाले पुराण का आदि प्रवक्ता भी ब्रह्मा ही था। इस पुराण शास्त्र का उपदेश सर्व शास्त्रों से पूर्व हुआ। वेदों से पूर्व नहीं। वेद की गणना शास्त्रों में नहीं आती।

३०. आदम—ब्रह्मा ही इस्लामी और यहूदी ग्रन्थों का आदम है। किसीयस नामक मुहम्मदी ग्रन्थकार लिखता है कि अब्राहम ने आदम के अनेक शास्त्र देखे थे।

३१. आक्षेप—अनेक लोग कहते हैं कि एक मनुष्य इतने और इतने बड़े शास्त्र बनाए, यह असम्भव है। ऐसे लोग वर्तमान स्थिति से आदि-युग का

संतुलन करते हैं। वस्तुतः पहली सृष्टि अनेक बातों में अधिक उन्नत थी। सोचने का स्थान है कि सत्य इतिहास को अपनी इच्छा-मात्र से परे नहीं फेंका जा सकता। विभिन्न विद्याओं के उत्तर-वर्त्ती लेखकों का एक समान साक्ष्य है कि विद्याओं के आदि उपदेश ब्रह्मा जी की कृतियां हैं। इन कृतियों के अनेक श्लोक उद्धृत-रूप में अब भी उपलब्ध हैं। प्राचीन इतिहास सर्वथा ठीक है।

ब्रह्मा जी को चतुर्मुख कहते ही इसलिए हैं, कि वे सकल-विद्या-उपदेष्टा थे।

३२. स्वायंभुव मनु—यह उपदेश-युग था। ब्रह्मा जी के धर्मशास्त्र के आधार पर स्वायंभुव मनु भी एक लाख श्लोक का अपना बृहच्छास्त्र कह रहा था। इसी मूल शास्त्र का तीसरा अथवा चौथा प्रवचन वर्तमान मनुस्मृति है।

मनु की रचना अद्वितीय थी। मनु की शिक्षा का अंशमात्र ही श्री मूसा ने ग्रहण किया था। मनु संसार-मात्र का सबसे उत्कृष्ट मित्र था। मनु के भावों को समझे विना ही अनेक वर्तमान लोग मनु पर मिथ्या आक्षेप करते हैं। मनु के उपदेश पर आचरण करने से आर्य जाति उत्कृष्टता का मार्ग पकड़े रही है।

३३. सप्त-ऋषि—सप्त-ऋषि संसार भर में प्रसिद्ध हैं। वे थे भृगु, अंगिरा, और अत्रि आदि। इन्हें प्राचीन जातियाँ सप्त-विप्र (seven wise men) भी कहती थीं।[1] इन सप्तर्षियों ने कुछ मनु की छाया पर और कुछ स्वतन्त्र अपना ग्रन्थ चित्रशिखण्डी शास्त्र कहा।

३४. लिपि का अनुपयोग—ब्रह्मा की ब्राह्मी लिपि सुप्रसिद्ध है। लिपि का पदेश ब्रह्मा जी ने कर दिया था, पर लिपि का प्रयोग अधिक नहीं था। ादि ऋषियों और विद्वानों की स्मृति असाधारण थी। उपदेश होता था और सब स्मरण हो जाता था। लिपि का विस्तृत प्रयोग बहुत काल पश्चात् आरम्भ हुआ। उपदेश के कारण ही पुराने ग्रन्थों में लिखा है—स्वायंभुव मनु बोला, कश्यप बोला, ब्रह्मा बोला, इत्यादि। सब अध्यापन उपदेश द्वारा होता था।

३५. रोग-अभाव—तब संसार में रोग अति न्यून था। अनियमित जीवन, अधर्म और नगर-वास आदि से रोग उत्पन्न होता है। सतयुग में ये बातें न थीं। लोग दीर्घ-जीवी थे। साधारण मनुष्य भी ३००-४०० वर्ष तक जीते थे। तपस्वी, ज्ञानी, निष्पाप ऋषि इससे भी अधिक जीते थे।

---

1. Rene Guenon, Main Currents in Western Thought, p. 285.

३६. वेदों का विषय—वेद शब्द का अर्थ है, जिसमें ज्ञान हो, अथवा जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाए। निस्सन्देह वेद में अद्वितीय ज्ञान है—सृष्टि उत्पत्ति का, जो वैज्ञानिक वर्णन हम प्रथम अध्याय में कर चुके हैं, वह वेद के आधार पर ही है। इस ज्ञान के सम्मुख संसार का सारा वर्तमान ज्ञान बिन्दु-मात्र के तुल्य है। प्रलय रात्रि कैसी थी, प्रकृति वा माया का मूल-रूप क्या था, महान् आत्मा ने उसमें विषमता कैसे उत्पन्न की, यह वेद में अति स्पष्ट रूप में वर्णित है। अग्नि कितने प्रकार का है, अग्नि का हर, अग्नि का तेज क्या है, यह भेद वेद से ही ज्ञात होता था। सूर्य में वैश्वानर अग्नि किस प्रकार जलता है, उसकी सहस्र रश्मियां क्या-क्या काम करती हैं, इस ज्ञान का दर्शन भी वेद द्वारा ही सम्भव है। सूर्य की सुषुम्णा रश्मि चन्द्र पर से प्रति-मूर्छित होकर अर्थात् उलट कर किस प्रकार शीतल रस उत्पन्न करती है, इसका विस्तृत ज्ञान वेद मन्त्रों में ही मिलता है। महामेघ अर्थात् वृत्र कैसे बना, वह कैसे छिन्न भिन्न हुआ, उसके द्वारा सोम कहाँ-कहां गया, इसका चित्र वेद में चित्रित् है। गायत्री छन्द के कारण द्यौः लोक से सोम नीचे कैसे उतरा, यह भी वेद में ही वर्णित है। इसी सोम के कारण पृथिवी पर ओषधि और वनस्पति का जन्म हुआ, और गो-दुग्ध भी पूरे रूप में आया। पृथिवी पर पर्वत कभी कुपितावस्था में थे, वे अपने अन्दर से पिघले हुए पदार्थ कैसे निकालते थे, इसका रोचक उत्तर भी वेद में ही है। आकाशी यज्ञ, जिनमें सूर्य, चन्द्र, पृथिवी और वृहस्पति आदि ग्रह भाग ले रहे थे, कैसे हो रहे थे, इसका रहस्य भी वेद में ही खुलता है। कभी द्युः और पृथिवी दोनों उग्र-रूप धारण कि' थे, फिर वे दृढ़ हुए, इसका ज्ञान भी वेद-विना संभव नहीं।

३७. वेद में उद्भिज्-विद्या का भी अत्यन्त उत्कृष्ट-रूप वर्णित है। ओषधि, वनस्पति, वीरुध और वृक्ष का महावैज्ञानिक वर्गीकरण वेद में ही दिखाई देता है। वर्तमान औद्भिदी (botany) इतनी दूर तक नहीं पहुँच पाई।

३८. आदि में वाणी कैसे उत्पन्न हुई, ध्वनि उत्पन्न क्यों होती है, दो पदार्थों के टक्कर खाने से शब्द क्यों उत्पन्न होता है, वेद-मन्त्र मनुष्य की कृति न होकर आकाशस्थ देवों की कृति किस प्रकार हैं, इसका प्रशस्त उत्तर भी वेद ही देता है। सूर्य के दिव्य अश्व छन्दोमय रूप धारण किए क्यों लीला करते हैं, इसका ज्ञान वेद में ही है।

३९. सभा, समाज, समिति, मानव संघ और राज्य अथवा राष्ट्र के सूक्ष्म

भेद भी वेद में ही उपदिष्ट हैं। गृहस्थ की महिमा, पुत्र और पुत्री के कर्त्तव्य भी वेद में उपदिष्ट हैं।

४०. इन सबसे बढ़कर ब्रह्म का लोमहर्ष उत्पन्न करने वाला वर्णन, सृष्टि में ब्रह्म की चमत्कारी सत्ता का निरूपण वेद और विशेषतया अथर्ववेद में है। पुनश्च परलोक का सजीव चित्र, और लोक-लोकान्तरों का मुँह-बोलता चित्र वेद में ही चित्रित है।

४१. वेद का व्यापक प्रभाव—वेद का प्रभाव भारतीय जाति तक ही सीमित नहीं था, प्रत्युत संसार-व्यापी था। मिश्र देश के अति प्राचीन लेखों में (विक्रम से ४००० वर्ष पूर्व) वेद-मन्त्रों का अनुवाद मिलता है। पुरानी बाइबिल के उत्पत्ति के अध्याय में वेद के व्याख्यान ब्राह्मण ग्रन्थों के वचन याथातथ्य रूप से अनूदित हैं। काल्डिया वा असीरिया (असुर देश) के लोग वेद-मन्त्रों द्वारा यज्ञ किया करते थे। पारसियों के धर्मग्रन्थ अवेस्ता में ऋग्वेद के एक मन्त्र का अंश अब भी मिलता है।

इन चारों उदाहरणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि अति प्राचीन काल में भी वेद का असाधारण प्रभाव था। उस समय वेद-ज्ञान को समझने वाले विद्वान् संसार में विद्यमान थे। यूनान के लेखक हेसियड (विक्रम से ७०० वर्ष पूर्व) ने स्वलिखित देवविद्या में कई स्थानों पर वेद के भाव ही प्रकट किए हैं। प्राचीन विज्ञान और उसकी परिभाषाओं के ज्ञाता इस समय नहीं हैं। अतः वेद का वह सक्रिय आदर नहीं है।

४२. वेद का काल—आर्य विद्वान् वेद को अनादि तथा अपौरुषेय मानते हैं। योरोप के अधिकांश ईसाई और यहूदी लेखकों ने वेद का काल ईसा से १२००—२००० वर्ष पूर्व का कल्पित किया है। जर्मनी के महोपाध्याय यकोबी ने ज्योतिष-विज्ञान के अनुसार वेद का काल ईसा से ४००० वर्ष पूर्व का माना है। महाराष्ट्र विद्वान् बाल गंगाधर तिलक ने ऋग्वेद के अनेक सूक्तों का काल ईसा से ६००० वर्ष पूर्व का लिखा है।

इन्द्र आदि पार्थिव-देव वेद पढ़ते थे।[१] हैरोडोटस ने लिखा है कि मिश्र के पुरोहित हरकुलेस=सुरकुलेश अर्थात् विष्णु आदि देवों का काल उसके अपने काल से १७००० वर्ष पूर्व का कहते थे। तदनुसार वेद विक्रम से १९००० वर्ष से कहीं पहले का है। मिश्र के पुरोहितों का मत पक्षपात-मात्र से

---

१. वेद का इन्द्र पार्थिव इन्द्र नहीं है।

परे नहीं फेंका जा सकता। यह मत आर्य इतिहास के अधिक अनुकूल है।

वेद-ज्ञान संस्कृतियों के मिश्रण का परिणाम नहीं है। वेद में अनेक विद्याएँ आदि देखकर कई लोगों ने ऐसा कहना आरम्भ कर दिया है। वेद-काल का यथार्थ निर्णय बताता है कि वेद में आदि से ही ऐसा ज्ञान है। उसी का प्रभाव संसार की समस्त संस्कृतियों पर पड़ा है, अन्य संस्कृतियों का वेद पर नहीं।

पाँचवाँ अध्याय

देव-युग

४३. **दैत्य-असुर**—प्रजापतियों में दक्ष और कश्यप प्रजापति बहुत प्रसिद्ध हैं। दक्ष की दिति, अदिति, दनू और दनायू आदि कन्याओं का विवाह कश्यप से हुआ। इन में दिति सबसे ज्येष्ठा थी। उसके हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष आदि पुत्र जन्मे। इन्होंने काल्डिया, अथवा सुमेर आदि को अपना निवास-स्थान बनाया। इनकी सन्तान में प्रह्लाद, विरोचन और बलि बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके पुत्र पौत्र प्रायः संसार पर छा गए। ये संसार के अनेक भागों के प्रथम राजा थे। दैत्यों की सन्तान में ही वर्तमान योरोप की अनेक जातियाँ हैं। दैत्य ही ग्रीक वाङ्मय में टाइटन और उत्तरवर्ती योरोपीय साहित्य में टूटन और आगे चलकर डाइट (=जर्मन) तथा डच आदि कहाए। दैत्य और दानव आदि पदों के विकृत रूप ही योरोपीय देशों के नामों में अब भी पाए जाते हैं। दैत्य अथवा असुर अमितप्रज्ञ कहे गए हैं। वे माया अर्थात् साइन्स में बहुत योग्य थे।

४४. दिति की छोटी भगिनी अदिति थी। उसके बारह पुत्र हुए। माता अदिति के कारण उनका नाम आदित्य हुआ। पहले दैत्य भी देव कहाते थे। जब आदित्यों ने अपने भाईयों से भूमि का कुछ राज्य माँगा तो दैत्यों ने राज्य बाँटना स्वीकार नहीं किया। इस पर इन्द्र, विष्णु आदि ने अपने को देव और उन को असुर कहना प्रारम्भ किया।

४५. इस पर बहुत काल तक देवासुर संग्राम हुए। देवों ने भारतवर्ष का वह भाग जो ब्रह्मा का था, अपने लिए ले लिया। यहाँ अभी कोई राज्य नहीं था। नगर तो थे नहीं, थोड़े रो ग्राम आदि थे।

४६. **देव-नदियाँ और देव-देश**—स्मरण रहे कि ये देव पार्थिव थे। वेद के दिव्य देव नहीं थे। आर्य लोग सदा से इस देव-भेद को जानते आए हैं। योरोपीय लेखकों ने इस विषय में असमञ्जसता उत्पन्न की है। अस्तु, भारत-वर्ष में कभी दो बड़ी नदियाँ सरस्वती और दृषद्वती थीं। त्रेता के आरम्भ में किसी महान् भू-विप्लव के कारण सरस्वती नदी सूख गई। आज इसके अवशेष-मात्र ही दीखते हैं। कहीं-कहीं पुरानी नदी का दो-दो मील चौड़ा पाट अब भी दिखाई देता है।

सरस्वती नदी देव-नदी कहाती थी। इसके तीरों पर देवों ने अनेक यज्ञ किए थे। विभिन्न ऋषियों ने भी यहाँ लम्बी तपस्याएँ की थीं। दूसरी नदी दृषद्वती भी देव-नदी थी। इन दोनों के मध्य का देश श्री ब्रह्मा का देश था। इस देश को देवों ने अपने रहने योग्य कर लिया। इसे देव-निर्मित देश कहते हैं।

४७. भारत में राज्यव्यवस्था का आरम्भ—दिति और अदिति की एक वहन दनू थी। उसका पुत्र था विप्रचित्ति दानव। इसे (यवन=ग्रीक) ग्रन्थों में डायोनीसियस कहा है। दानवासुर शब्द का अपभ्रंश ही यह ग्रीक शब्द है। विप्रचित्ति भयङ्कर योद्धा था। उसने पञ्जाब का एक विशेष भाग उजाड़ा। ऋषियों को भी कष्ट हुआ। यवन यात्री मैगस्थनेज़ लिखता है कि, डायोनीसियस=दानवासुर के अनेक अनुगामी पंजाब के कई स्थानों में रह गए। उन्होंने अपनी वस्तियाँ यहाँ वसा लीं। मोहेञ्जोदरो और हड़प्पा उन्हीं वस्तियों में से दो हैं। यहाँ की असुर-सभ्यता के अवशेष संवत् १९७५ और उत्तर-कालीन खुदाइयों में मिले हैं। पर वस्तुतः असुर भी कभी आर्यों के साथी ही थे।

४८. तव धर्म का एक पाद लोप हो रहा था। दैत्यों का लोभ भारत में भी अपना रंग जमाने लगा। प्रजा लोभी बनने लगी।[1] बलवान् धनियों को तंग करने लगे। तव धार्मिक लोगों ने ऋषियों की सम्मति से निर्णय किया कि दण्ड विधान लागू होना चाहिए। उस दण्ड का चलाने वाला कोई शासक होना चाहिए। सव की सम्मति हुई कि विवस्वान् का पुत्र मनु इस काम के लिए योग्यतम है।

४९. वैवस्वत मनु—विवस्वान् वारह आदित्यों अथवा देवों में से था। उसका पुत्र वैवस्वत मनु बहुत धर्मात्मा था। यह मनु स्वायंभुव मनु के महान् शास्त्र का विशेषज्ञ और शासन-कार्य में समर्थ था। पर वह शासन का भार संभालने को उद्यत न था। उसने इस काम को अस्वीकार किया। एक वार-दो वार। प्रजाएँ मात्स्य-न्याय से पीडित हो रही थीं। अतः अन्त में उसे अनुनय-विनय के सम्मुख झुकना पड़ा। मनु भारत का प्रथम मूर्धाभिषिक्त राजा हुआ। उसी का सन्तान मानव हुआ और उत्तरोत्तर वृद्धि पाने लगा।

---

१. कौटल्य अर्थशास्त्र।

मनु का राज्य-शासन

५०. मनु राज्य का संचालक था। वह विधान-निर्माता नहीं था। विधान तो स्वायंभुव मनु ने भी नहीं बनाया था। विधान का निर्माता साक्षत् ब्रह्मा था। ब्रह्मा के उपदेश के आधार पर दण्ड-विधान आदि बने। उसके विधान का व्याख्यान स्वायंभुव मनु ने किया। सप्तर्षि उसी विधान के स्पष्ट करने वाले थे। वैवस्वत मनु ने उन्हीं के उपदेश के आधार पर अपने ग्रन्थ की रचना की, और तदनुसार ही शासन आरम्भ किया।

दण्ड-शास्त्र अथवा राज-शास्त्र का स्वरूप

५१. संसार मर्यादा में रहे, इसके लिए वर्णाश्रम धर्म का ग्रहण आवश्यक समझा गया। वर्णाश्रम धर्म ही आर्य पुरुषों के सुख और ऐश्वर्य का मूल साधन था। वर्ण-संकर प्रजाएँ महा-कष्टों को भोगती हैं। वर्णों में चार वर्ण प्रधान थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। वर्णों के कर्त्तव्य निश्चित थे। सब को उनके बन्धन में चलना पड़ता था।

५२. **ब्राह्मण**—जो सब से न्यून धन-धान्य संचय करे, वह श्रेष्ठतम ब्राह्मण था। संचय से नीच वृत्तियाँ आरम्भ होती है। पर कुम्भीधान्य ब्राह्मण का मान सब से अधिक था। वह विद्या का भण्डार और रक्षक समझा जाता था। वह वेद को सस्वर कण्ठस्थ रख कर संसार की महती सेवा करता था। वेद के स्वर का महत्त्व डेनिश विद्वान वर्नर ने समझा था। क्योंकि ब्राह्मण सर्व-ज्ञान का पुंज था, अतः पाप-वृत्ति होने पर ब्राह्मण को ही सब से अधिक दण्ड मिलता था। ब्राह्मण सत्य का स्वरूप था। आर्य-संस्कृति का आधार सत्य है। अतः ब्राह्मण अनृत-कथन से दूर रहता था। धर्मस्थ अथवा न्यायाधीश का स्थान ब्राह्मण के ही उपयुक्त था। ग्राम को आग लग जाए, तो उस आग में से ब्राह्मण का रक्षण सबसे अधिक अभीष्ट था, क्योंकि ब्राह्मण के नाश से ज्ञान का नाश संभावित था। आज भी संसार के मुख्य राष्ट्र अपने वैज्ञानिक का सब से अधिक रक्षण करते हैं।

दूत का काम भी प्रायः ब्राह्मण करते थे। वे अवध्य थे और सत्य का सन्देश सुना सकते थे।

ब्राह्मण पर सारी शिक्षा का भार था। यह शिक्षा राज्य के आधीन न थी। राज्य गुरुकुलों को भूमि-दान कर देते थे, पर शिक्षा पर अधिकार अपना नहीं रख सकते थे। शिक्षा ब्राह्मणों और ऋषियों के आधीन थी।

ब्राह्मण अति सच्चरित था। कारण, उसका आहार परम सात्विक था।

वह सुरा, मांस, तामसिक भोजन और कटु-भाषण से परे रहता था।

शालावृक ब्राह्मण—पर जब ब्राह्मण भी उत्कोच[1] अथवा लोभ-वश अधर्म प्रवृत्ति वाला, तथा अधर्म प्रवर्तक हो जाता था, तो दण्ड्य होता था। ऐसे सहस्रों ब्राह्मण जो पाकशाला के कुत्तों के समान थे, देवों द्वारा मारे गए।

५३. क्षत्रिय—राज्य-कार्य का सूत्रधार था। पिता के पश्चात् ज्येष्ठ-पुत्र राज्याधिकारी चुना जाता था। उसके भी अभाव में उसका पुत्र अथवा छोटा भाई राज्य सम्भालता था। पर अधार्मिक राजा को प्रजा सहन न करती थी।

वेन नामक राजा ऋषियों द्वारा दण्डित हुआ। पुरुरवा भी दण्डित हुआ। सगर का पुत्र असमंजा भी दण्डित हुआ। अंगहीन, रोगी और लोभी पुरुष राज्य नहीं सम्भाल सकता था। अंगहीन होने के कारण शन्तनु का भाई देवापि राजा न हुआ।

क्षत्रिय की शिक्षा में धनुर्वेद और अर्थशास्त्र के अध्ययन का प्राधान्य रहता था। मनु से लेकर दाशरथि राम के काल तक और तत्पश्चात महा-भारत युद्ध के काल तक लग-भग सब आर्य राजा वेद जानने वाले और सुचरितव्रत वाले हुए हैं। रामायण और महाभारत में बहुधा लिखा है—**सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः**। तत्प्रसंग में उल्लिखित राजा वेदवित् थे और सुचरितता के व्रतधारी थे।

प्रजापालन क्षत्रिय का परम ध्येय था। अनेक क्षत्रियों ने इसी निमित्त बड़े-बड़े कष्ट सहे। राम ने निष्पाप सीता का परित्याग किया।

राज्य के सुप्रबन्ध से दस्यु और याचनकों का प्रायः अभाव था।

चक्रवर्ती राज्य—धर्मकार्य के लिये श्रेष्ठ क्षत्रिय प्राणों का पण लगा देता था। कुछ पापी क्षत्रिय भी हुए थे, पर बहुत उत्तर-काल में। क्षत्रिय लोग सारी भारत-भूमि पर अपने रथचक्र को अव्याहत गति से चला कर अश्वमेघ यज्ञ किया करते थे। मनु के उस काल में यज्ञों में अभी बलि आरंभ न हुई थी। अश्वमेध की बड़ी महिमा मानी जाती थी।

५४. वैश्य—वैश्य का कर्त्तव्य था पशुपालन, कृषि और वाणिज्य। पर ब्रह्मचर्य-काल में वैश्य दूसरी विद्याएँ भी पढ़ता था। वह धर्म से व्यापार करता था। ऐसे वणिक जाजलि तुलाधार की कथा महाभारत में कही गई है।

१.—रिश्वत।

कृषि देवमात्रिका (...वर्षा जल पर आश्रित) ही न थी। बड़े-बड़े तड़ाक बनाए जाते थे। राजा का कर्त्तव्य था कि कृषक अथवा कीनाश (—किसान) को सुखी रखे। ओलों तथा अतिवर्षा से खेती के नाश होने पर कृषक को अनुग्रह-ऋण मिलता था। इस पर सूद की मात्रा अतीव अल्प थी।

सारी भूमि राष्ट्र की अथवा राजा की समझी जाती थी। उसका भाग आवश्यकतानुसार सब को मिलता था। किसान भूमि की उपज का छठा भाग राजा के लिए देते थे।

कृष्ण-व्यापार की संभावना को रोकने के लिए कड़े नियम लागू थे। प्रतिरूपक (नकली) वस्तुओं के लिये भी दण्ड कड़ा था।

वैश्य गोपालन करते थे। प्रत्येक गौ द्रोणदुघा थी, अर्थात् उसका एक काल का दूध एक द्रोण अर्थात् लगभग १६ सेर था।

५५. शूद्र—शूद्र वे लोग थे, जो पढ़ाए जाने पर भी अधिक पढ़ नहीं सके। पर वे भी प्रायः साधारण साक्षर होते थे। उत्तर काल में शूद्र आदि जन्म से माने जाने लगे। शूद्रों में अनेक शिल्पी श्रेणियाँ भी थीं। शूद्र का आचार साधारणतया आज कल के सम्पन्न और उच्चताभिमानी लोगों से अधिक अच्छा होता था।

शूद्र श्रेणी के लोग ही घरों में सेवक का काम करते थे। उनके विषय में विधान था कि गृहपति उन्हें वैसा ही भोजन दे जैसा वे स्वयं खाते हैं। जो भेद इस सम्बन्ध में आज दिखाई देता है, वैसा पहले न था। सेवक के सुख के सब प्रबन्ध गृहपति पर थे।

शूद्र-सेवक सत्य बोलने वाले और स्वामी का कल्याण चाहने वाले थे। वर्तमान नौकरों के समान झूठ बोलने का सतत अभ्यास नहीं करते थे।

वर्ण-परिवर्तन

५६. वर्ण-परिवर्तन एक साधारण बात थी। क्षत्रिय विश्वामित्र ब्राह्मण और ऋषि हो गया। ब्राह्मण इन्द्र क्षत्रिय हो गया। मनु-पुत्र नाभानेदिष्ट के वंशज सब वैश्य हो गए। वे वणिक्वृत्ति बने। सतयुग के आरम्भ में आदि दिनों का छोटा सा संसार ब्राह्मण ही था। शनैः-शनैः कर्मों के भेद से भिन्न-भिन्न वर्ण हो गए। परन्तु कोई आदमी स्वेच्छा-मात्र से वर्ण-परिवर्तन कर उच्च-वर्ण प्राप्त नहीं कर सकता था। उसे ऋषि आश्रमों आचार्य-कुलों और गुरुकुलों आदि में पर्याप्त-वास करके प्रमाण-पत्र प्राप्त करना पड़ता था, कि उसकी मनो-वृत्ति उच्चता वाली हो गई है। अन्यथा

कड़ा दण्ड दिया जाता था। उत्तर-काल में राम के राज्य में एक ऐसा ही व्यक्ति शम्बूक स्वयं ब्राह्मण तपस्वी बनने चला था। उसे दण्ड मिला। राज्य-व्यवस्था इसी प्रकार की थी।

आश्रम धर्म

५७. वर्ण का आधार आश्रम-धर्म पर था। आश्रम चार थे। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। ब्राह्मण और अनेक क्षत्रिय समय-समय चारों आश्रम ग्रहण करते थे। वैश्य गृहस्थ आश्रम तक ही सीमित रहता था। पर आचार्य के पास वास कर के, पहले ब्राह्मण बन कर पुनः वह वानप्रस्थ और संन्यास ग्रहण कर सकता था।

५८. **ब्रह्मचर्य** – ब्रह्मचर्य का अर्थ है, ब्रह्म अर्थात् वेद में आचरण के लिए सज्जित होना। यह आश्रम ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकुमारो के लिए परम आवश्यक था। इसके उल्लंघन पर कठोर दण्ड था। शूद्र भी शिल्पी आचार्यों के पास विद्या और शिल्पाभ्यास के लिए रहते थे। उनमें से जो विद्या में अधिक रुचि दिखाएँ, वे अपनी प्रवृत्ति के अनुसार ऊपर के वर्ण में चले जाते थे।

आदि के संसार में सब नर-नारी संस्कृत भाषा भाषी थे। उच्चारण और भाषा की शुद्धि पर बहुत बल दिया जाता था। यही कारण है कि जब संसार की प्रायः जातियाँ म्लेच्छ अर्थात् अव्यक्त, अस्पष्ट वाक् वाली होती गईं, तो भी भारतीय आर्य संस्कृत भाषा में प्रवीण होता आया।

तीन वर्ष की अवस्था से अथवा मुण्डन वा चूड़ाकर्म संस्कार के पश्चात् बालक को लिपि और संख्या का ज्ञान कराया जाता था। आठ वर्ष के पश्चात् यज्ञोपवीत के अनन्तर बालक विद्या-कुलों में चले जाते थे।

ब्रह्मचारी का जीवन अति सरल और शृङ्गार-शून्य होता था। वर्तमान परिस्थितियों में वह अलौकिक भाव दिखाई ही नहीं देता। राजा और रङ्क एक स्थान पर, एक आश्रम में बिना भेद-भाव पढ़ते थे। निरभिमानता को स्थिर रखने के लिए ब्रह्मचारी को कभी-कभी भिक्षा के लिए भी जाना पड़ता था। ब्रह्मचारी राग-रंग में भाग नहीं लेते थे।

ब्रह्मचर्य-काल में प्राप्त विनय (शिक्षण, training) जाति को मानवता के उच्चतर-स्तर पर बनाये रखती थी।

ब्रह्मचारी के आठ दोष विशेष हटाये जाते थे। वे हैं—आलस्य, मद, अज्ञान, चपलता, गोष्ठी, स्तब्धता वा जड़ता, अभिमान तथा स्वार्थ। आज इस प्रकार के प्रबन्ध नहीं हैं।

शिक्षा के देनें वाले निःस्वार्थ, त्यागी, तपस्वी, सच्चरित्र ब्राह्मण, आचार्य वा ऋषि होते थे। गुरु-शिष्य का सम्बन्ध आदर्श-सम्बन्ध था। विनम्रता विद्यार्थी का एक भूषण था। सत्य-भाषण का स्वभाव गुरुकुल में ही पक्का होता था। सन्ध्या, अग्निहोत्र का नियम सदा रहता था।

आचार्य-शिष्टा जाति—प्राचीन आर्य आचार्यों से शासित थे। इसी कारण उनकी जाति अजरा और अमरा थी। वर्तमान शिक्षा में शास्त्र-निर्दिष्ट आचार्यों का अभाव है।

देव इन्द्र और विरोचन असुर, कश्यप प्रजापति के पास विद्या अध्ययन करते रहे। विरोचन ३६ वर्ष और इन्द्र १०१ वर्ष पढ़ा। उन दिनों आयु लम्बा था। विश्वामित्र इन्द्र के पास पढ़ता रहा। इन्द्र आचार्य बृहस्पति के पास पढ़ा।

ब्रह्मचर्य का काल सामान्य रूप से २४ से ४८ वर्ष तक का था।

५९. गृहस्थ—यह दूसरा आश्रम था। विद्याध्ययन की समाप्ति पर स्नातक गृहाश्रम में प्रवेश करते थे। अनेक यति ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ग्रहण करते थे। गृहस्थ आश्रम की बहुत महिमा मानी जाती थी। गृहस्थ के ऊपर ही ब्रह्मचारी के पालन-पोषण का भार था। गृहणी प्रतीक्षा में रहती थी कि कोई ब्रह्मचारी भिक्षा ले जाये और घर का अन्न पवित्र हो।

६०. कोई गृहस्थ अकेला नहीं खाता था। उसके सामने वेद का उपदेश सदा रहता था—

केवलाघो भवति केवलादी—केवल पाप खाता है जो अकेला खाता है। इसी प्रकार अन्य बातों में भी गृहस्थ दान-शील थे। स्वाध्याय के समान दान भी जीवन का एक अंग था।

६१. घरों में कलह का अभाव था। जब नारियाँ ही कलह न करती थीं, तो मनुष्य ने कलह क्या करनी थी। कलह के कारण ही दैत्य, देवपन से पतित होकर असुर हो गये। गृहस्थ देवियाँ भूषण आदिकों से सुशोभित रहती थीं। युद्धों में हतपतियों वाली नारियों के अतिरिक्त अन्य नारियाँ विधवा न थीं। सामान्य रूप से एक पुरुष की एक ही पत्नी रहती थी। कहीं-कहीं पर एक पुरुष की अनेक पत्नियाँ भी थीं। पर यह प्रथा बहुत ही थोड़ी थी। क्षत्रियों में यत्र-तत्र ऐसे उदाहरण मिलते थे।

संस्कार—आर्य लोग अपने बच्चों के कई संस्कार करते थे। जन्म पर बालक के कान में, सत्य बोलो, धर्म पर आचरण करो, दीर्घ देखो और परम दूर की बात देखो, वचन कहे जाते थे। नामकरण, चूड़ाकर्ण, उपनयन

श्रीर विवाह संस्कार-प्रधान संस्कार थे। इनसे संस्कृत-बालक जाति के स्तम्भ बनते थे।

६२. वानप्रस्थ—गृहस्थ के पश्चात् ब्राह्मण और क्षत्रिय वन का मार्ग पकड़ते थे। वह पुण्योपार्जन और तप का एकमात्र स्थान था। वनों में फलों के वृक्ष भरपूर रहते थे। साँप, सिंह, हिंस्र पशुओं का भय नहीं था। वनों में ऋषियों के आश्रम भी होते थे। वानप्रस्थ उनका सत्संग किया करते थे। योग के अभ्यास का वे उचित स्थान थे। अति प्राचीन काल से नैमिषारण्य, द्वैत वन (वर्तमान-देववन्द) आदि ऐसे स्थान रहे हैं।

६३. संन्यास—अन्तिम आश्रम संन्यास था। संन्यास वही लेता था, जो वेदान्त-विज्ञान से सुनिश्चितार्थ होता था, तथा जो परम यति और शुद्ध सत्त्व हो जाता था। ये संन्यासी लोग भिक्षु भी कहाते थे। उनकी वृत्ति भिक्षा-वृत्ति होती थी। पञ्चशिख और याज्ञवल्क्य आदि भिक्षु कहलाये हैं।

६४. निवृत्ति मार्ग—उन दिनों निवृत्ति मार्ग के अनुयायी भी अनेक हुए थे। उनका मन संसार के प्रलोभनों से उपराम रहता था। सनक, सनन्दन, सनत् सुजात्, सनत्कुमार, आसुरि आदि लोग इसी मार्ग के महात्मा थे। उनकी जीवन-स्वच्छता का स्तर अत्यन्त ऊँचा था। वे नीरजस्तम थे। उनको विद्या स्वयं उद्भासित होती थी। उनके कारण संसार में जीवन-ज्योति का दर्शन बना हुआ था।

तत्कालीन संस्कृति के प्रधान अङ्ग

६५. जो कुछ ऊपर लिखा गया है, तदनुसार आर्य संस्कृति का प्रधान अङ्ग वर्ण, आश्रम मर्यादा, वेद और शास्त्र का स्वाध्याय, कर्तव्य-पालन, सत्यता, व्यवहार-शुद्धता, गो-ब्राह्मण सेवा और दान आदि थे।

छठा अध्याय

देव युग की विशेष देन

६६. धातु आविष्कार—वेद-ज्ञान की कृपा से देवों और मानवों को सोने आदि का ज्ञान तो था, पर ये धातुएँ पूरी काम में न लाई जाती थीं। देवासुर संग्रामों में अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग आवश्यक हो गया। सोना, चाँदी, ताम्र, लोहा आदि धातुओं की खानें खोदी गईं। इनका व्यवहार आरम्भ हो गया। युद्ध के लिए कवच भी बनने लगे। तलवार भी बना ली गई। तलवार का अपना इतिहास है।

असि-निर्माण—देवासुर संग्रामों के समय भगवान् ब्रह्मा ने असि का आविष्कार देवाधिदेव रुद्र को दिया। रुद्र से ही विष्णु को खड्ग मिला। तत्पश्चात् इन्द्र और कालान्तर में वैवस्वत मनु को तलवार की सम्पूर्ण-विद्या प्राप्त हुई।

६७. विश्वकर्मा—धातु-आविष्कार के अनन्तर ही शिल्प-कर्म सम्भव हुए। देवों का महान् शिल्पी विश्वकर्मा था। वह पृथ्वी भर का प्रथम शिल्पी था। उसी के उपदेश से नगर, पुर, खेट, ग्राम और पत्तन आदि बने। विशाल पथ भी उसी ने बनवाये। नहरों, तड़ाकों और पाथस-शास्त्रों (=जलशास्त्रों) का वह प्रथम उपदेष्टा था।

आभूषणों का आविष्कार भी इसी महापुरुष का है। विश्वकर्मा-रचित अनेक शास्त्र अब भी उपलब्ध होते हैं। यद्यपि इनमें पाठ-भ्रष्टता बहुत है, तथापि वे बहुत उपयोगी हैं। विशाल भवनों, पक्की ईंटों, और चक्र-यन्त्रों (=पहियों) का पहला निर्माता विश्वकर्मा ही था।

महर्षि वाल्मीकि ने रामायण सुन्दर काण्ड में लिखा है कि लङ्का में विश्वकर्मा ने सुमहान् प्रासाद बनाए थे।[1]

स्फटिक भाजन—लङ्का में दशग्रीव रावण की पानशाला में स्फाटिक-भाजन प्रयोगों में लाये जाते थे।[2]

६८. देवगुरु बृहस्पति—राजनीति के जिस महान् शास्त्र का उपदेश भगवान् ब्रह्मा ने दिया था, उसे विशालाक्ष शिव ने संक्षिप्त किया। उसी का

---

१. ~~१३।३८~~। २. रामायण, सुन्दर काण्ड।

कृत्रिमां दीर्घिकां चापि पूर्णां शीतेन वारिणा । मणिप्रवरसोपानां मुक्तासिकतशोभिताम् ॥ विविधैर्मृगसंघैश्च विचित्रां चित्रकाननाम् । प्रासादैः सुमहद्भिश्च निर्मितां विश्वकर्मणा ।

अति संक्षेप वृहस्पति ने किया। यह शास्त्र बार्हस्पत्य शास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस शास्त्र के श्लोक यत्र-तत्र उद्धृत आज भी मिलते हैं।

धन के सदुपयोग के विषय में वृहस्पति का मत देखने योग्य है। वृहस्पति का कथन है कि सभाएँ (व्याख्यानार्थ बड़े-बड़े भवन) बनवाने, प्याऊ लगवाने, अग्निहोत्र वा देवमूर्तियों के स्थान-निर्माण कराने, तड़ाक, आराम (बाग) बनवाने और इन के जीर्णोद्धार कराने तथा अनाथ और दरिद्रों के कपड़े-लत्ते और खाने-पीने के प्रबन्ध का भार समर्थ, धनवान् लोगों पर है। यदि कोई धनी इस विषय में आना-कानी करे, तो सर्वस्वहरण ही उसका दण्ड है। राजा ऐसा करके उसे पुर अथवा राज्य से निर्वासित कर दे। इसी नियम की ध्वनि महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय १६३ में दिखाई पड़ती है। मनु का भी यही उपदेश है कि असाधु लोगों के पास धन नहीं रहना चाहिये। वृहस्पति के इस उपदेश का पालन उस काल में पूरा होता था। इस प्रकार के दण्ड के भय से प्रजाएँ धर्म-मार्ग पर स्थिर रहती थीं।

६९. इन्द्र का बहु-शास्त्र रचन—देवासुर संग्रामों के पश्चात् जब जीवन शान्ति का हो गया तो इन्द्र ने सोचा कि स्वाध्याय के अभाव में वह बहुत विद्याएँ भूल-सा गया है। वह अपने शिष्य विश्वामित्र के पास पहुँचा। उस से उसने विद्याओं का अभ्यास किया। तब से इन्द्र का गोत्र विश्वामित्र का गोत्र हो गया। एवं इन्द्र कौशिक बन गया।

अब इन्द्र ने अनेक शास्त्र रचे। छन्द शास्त्र, आयुर्वेद शास्त्र, व्याकरण शास्त्र, अर्थशास्त्र, वास्तु शास्त्र आदि इन्द्र ने रचे। आश्चर्य है कि बड़े-बड़े शासक इतने विद्वान् हुए। इन्द्र ब्रह्मवादी अर्थात् मन्त्र-द्रष्टा था। संसार में ध्वज का प्रथम प्रयोग भी इन्द्र द्वारा ही युद्ध के समय हुआ।

७०. सनत्कुमार—भगवान् सनत्कुमार देव-युग की भारतीय संस्कृति के विशेष पुरुष थे। उन्हें स्कन्द भी कहते थे। जैन-परम्परा में भी इन का बड़ा मान है। सनत्कुमार विद्वान् सकल-ज्ञान-ज्ञाता, स्थिर-प्रज्ञ और परम वीत-राग थे। नारद उनके समीप अध्यात्म-ज्ञान लेने गया था। वे अष्ट-सिद्धि और नव-ऋद्धि सम्पन्न थे। उनकी विशेषता थी, परम ज्ञानी और परम भक्त होना। वे केवल ज्ञान और केवल भक्ति के विरोधी थे। उनके जीवन में दोनों बातें साथ-साथ चल रही थीं।

समय आया, जब देवों पर परा-काष्ठा की विपत्ति के बादल छा गए। देव सेनाएँ बार-बार परास्त हो रही थीं। कोई मार्ग दिखायी न देता था। सब भगवान् सनत्कुमार की शरण में पहुँचे। प्रार्थना की—महाराज! देव सेनाओं

का सेनापतित्व संभालो। उत्तर मिला। एक वीतराग व्यक्ति क्या कर सकता है। देवों ने प्रार्थना दोहराई। कर्तव्य प्रधान हुआ। योग का क्षेत्र कुछ काल के लिए त्यागा गया। निवृत्ति-मार्ग छोड़ा गया। योगज-शक्ति से भगवान् सनत्कुमार ने युद्ध-विद्या साक्षात् की। अब स्कन्द कार्तिकेय युद्ध-भूमि पर विचरने लगे। ईरान के पर्वतों पर उनकी ध्वजा लहराने लगी। इन्द्र और विष्णु प्रसन्न हुए। सनत्कुमार ने अभूत-पूर्व युद्ध किए। आसुरी-सेनाएँ सारे अयन (मोर्चे) छोड़ती हुई पीछे हटीं। योगी ने अपना काम पूरा कर दिया।

देश के लिए, संतप्त-मानव के लिए, धर्म के उच्छेद को रोकने के लिए भगवान् सनत्कुमार ने सब कुछ छोड़ा। उन्हीं की छटा गुरु समर्थ रामदास और बन्दा-वैरागी में पाई जाती है।

७१. नारद—दीर्घजीवी नारद देवर्षि कहाते थे। भगवान् सनत्कुमार से उन्होंने आत्म-ज्ञान प्राप्त किया। अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, संगीत शास्त्र आदि वे पहले से जानते थे। इतिहास और पुराण के अपार पण्डित थे। संसर्ग-विद्या (sociology) में वे कुशल थे। वे संसार के सब से बड़े पर्यटक हुए हैं। धर्मशास्त्र के व्यवहार-प्रकरण के वे निपुणतम आचार्य थे। उन्होंने नारद-स्मृति नाम के जिस ग्रन्थ का प्रवचन किया, उसमें व्यवहार का विस्तृत निरूपण है। व्यवहार के अठारह स्थान माने गए हैं। आर्य राज्यों में न्याय के करने में इन्हीं के विधान का आश्रय लिया जाता था।

अनेक योरोपीय लेखकों ने नारद-स्मृति का काल ईसा की चौथी शती माना है। यह सर्वथा अयुक्त है। नारद का धर्मशास्त्र भारत-युद्ध से सहस्रों वर्ष पूर्व विद्यमान था। जर्मनी के डाक्टर जोहेन्स मायर ने लिखा है कि यह धर्मशास्त्र कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पहले का है। औरों की अपेक्षा उनका मत सत्य के कुछ समीप है।

नारद का एक नाम पिशुन था। यह नाम सकारण हुआ। नारद ने एक अर्थशास्त्र की रचना की थी। उसमें भेद-नीति पर अधिक बल था। भेद में पिशुनता अथवा चुगलजी बहुत सहायक होती है। इसलिए नारद का नाम पिशुन हुआ। नारद की राजनीति का एक अच्छा विवरण रामायण और महाभारत में मिलता है।

नारद का मत था कि राजाओं को झाड़ सकने वाले विद्वान्, निस्पृह व्यक्ति भी होने चाहिएँ। इस के विना राजा भूलें करते हैं और उद्दण्ड हो जाते हैं। नारद की शिक्षा का भारत की राजनीति पर सहस्रों वर्ष प्रभाव रहा है।

७२. कवि उशना शुक्राचार्य—महर्षि भृगु का पुत्र उशना था। पिता की कृपा से वह असाधारण विद्वान् हो गया। वह साक्षात्कृतधर्मा ऋषि हुआ। उसने बृहस्पति के अर्थशास्त्र का संक्षेप करके एक महान् अर्थशास्त्र रचा। उस शास्त्र के श्लोक महाभारत आदि ग्रन्थों में आज भी मिलते हैं। उस ग्रन्थ के आधार पर गुप्त-काल में शुक्रनीतिसार ग्रन्थ बना।

शुक्राचार्य दैत्यों अर्थात् असुरों का पुरोहित था। ईरान, तातार, मैसोपोटेमियाँ के सब राजा उसका बहुत आदर-मान करते थे। वह अनेक आथर्वण सूक्तों का द्रष्टा था। उसका प्रभाव पारसियों के धर्म पुस्तक अवेस्ता पर स्पष्ट ही दीखता हैं। आथर्वण-विद्या में पारङ्गत होने के कारण वह महान् भिषक् भी था। देवों ने अनेक बार उसे अपने पक्ष में करने का यत्न किया। पर चरित्रवान् ऋषि ने माना नहीं। उसका प्रभाव दूर-दूर तक था। भारत की संस्कृति पर भी उसके अनेक विचारों की छाप है। च्यवन आदि अनेक भारतीय ऋषि उसके सम्बन्धो थे।

भृगु और अङ्गिरा ऋषि इतिहास-विद्या के बड़े श्रेष्ठ ज्ञाता थे। उशना एक भार्गव था, वाल्मीकी भी भार्गव था। उशना की शिक्षा के कारण योरोपीय जातियों में इतिहास-विद्या की परम्परा बनी हुई है।

७३. आगम वाङ्मय—वैदिक वाङ्मय के कुछ ही काल पश्चात् आगम वाङ्मय का प्रादुर्भाव हुआ। सनत्कुमार और नारद महामुनियों का नाम पूर्व लिखा गया है। ये लोग **स्वयम्-आगत-विज्ञानाः** थे। इनके उपदिष्ट शास्त्रों को आगम कहते हैं। आगम वाङ्मय का कभी बड़ा विस्तार था। सम्प्रति उस के कुछ अंश ही उपलब्ध हैं।

सातवाँ अध्याय

त्रेता-आरम्भ

मानवों का विस्तार

७४. नगर-निर्माण—आदिराजा मनु ने अपनी राजधानी अयोध्या स्थिर की। पहले अयोध्या नगरी नहीं थी। इसका निर्माण मनु ने यत्न-पूर्वक स्वयं किया। सरयू के तीर पर कोसल देश में यह सुन्दर नगरी बनाई गई। १२ योजन (१५ मील) लम्बी और तीन योजन विस्तीर्ण, चौड़ी थी। पुराने विशाल नगर प्रायः नदियों के तटों पर थे। नदियों के जल-मार्ग द्वारा व्यापार और यातायात सरल समझा जाता था।

अयोध्या पुरी के प्राकार में बड़े-बड़े द्वार और कई स्थानों पर दुर्ग बने थे। सेना के रहने का सुप्रवन्ध था। पथ, राजपथ और महापथ सुविभक्त थे। इन पथों पर वृक्ष और पुष्प वाटिकाएँ भी थीं।

७५. मनु से मानवों की संस्कृति का आरम्भ होता है। मनु के पुत्रों और कन्या के वंश में सारा भारत बट गया। गान्धार और उससे परे ईरान तक कभी भारत की सीमाएँ थीं। मनु के पुत्र सूर्य-वंश के कहाए और कन्या-वंश का नाम सोम वा चान्द्र-वंश हुआ। इन दोनों वंशों में महाप्रतापी राजा, राजर्षि और ब्रह्मर्षि हुए हैं। इन्हीं क्षत्रिय कुलों के अनेक लोग तेजस्वी ब्राह्मण बन गए। वर्णाश्रम मर्यादा का सुचारु पालन इन्हीं वंशों के कारण हुआ।

इन वंशों के पहले दिनों के राजा वहुधा देवों की सहायता के लिए जाया करते थे। पुरूरवा, ककुत्स्थ आदि की देवों को दी गई सहायता इतिहास में प्रसिद्ध है। देवों से इनका सम्बन्ध भी था। देव मनु के चाचा वा ताया ही थे। इसी कारण मानव-संस्कृति का देव-संस्कृति से सम्बन्ध है।

अयोध्या के निर्माण के उत्तरोत्तर-काल में नगर-ग्राम बनते गए।

७६. मन्त्रिमण्डल—शासन स्थिर करने के लिए सबसे पहले मनु ने मन्त्रिमण्डल की स्थापना की। आठ मन्त्री चुन लिए गए। ये राजकोष से वृत्ति ग्रहण करने वाले थे। विद्याओं में पारङ्गत, मन्त्र को गुप्त रखने के स्वभाव वाले, सहन-शील, अर्थ-शौच के ज्ञाता, कोश-संग्रह में चतुर, दोषयुक्त-पुत्र में भी दण्ड-पाती, अपने राष्ट्र में रहने वाले, वर्णों के रक्षक, आचार के विवेकी, परस्पर-अविरुद्ध, निरभिमान्, प्रिय-भाषी, दैत्य-राज्यों में अपनी वुद्धि

के लिए विख्यात और देश-भक्त मन्त्री चुने गए। कोई लोभी अफसर राज-सेवा में नहीं था।

परिषत्—तब परिषत् का भी जन्म हुआ। वेद, तर्कशास्त्र और धर्म-शास्त्र जानने वाले तीन सदाचारी, विद्वानों की परिषत् चुनी गई। धर्म-संशय-निर्णय के लिए सब विषय इसमें उपस्थित होने लगे। बहुधा एक वेदवित् के निर्णय के सामने अनेक साधारण सदस्यों की सम्मति नहीं मानी जाती थी। परिषत् पर न्याय का भार रहता था। और न्याय पर राज्य-व्यवस्था ठीक चलती थी।

७७. सामाजिक दशा—कृतयुग के अन्त में अराजकता से जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, मनु के राज्य संभालते ही वह दूर हो गई। प्रजा-संकट हट गया। परस्पर की हिंसा दूर हुई। शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो गया। अब अबलों को बलवान् मारते नहीं थे। वर्णसंकरता दूर हुई। भोज्याभोज्य के नियम लागू हो गए। शील की रक्षा की स्थापना हुई। जिस शील से तीनों लोक जीते जाते हैं, उसके प्रति लोगों की श्रद्धा बढ़ी। उसका स्वरूप प्रचलित हुआ। मन, कर्म, वाणी द्वारा सारे भूतों से अद्रोह, तथा अनुग्रह और दान ये शील के अंग थे। जो दूसरों के हित में नहीं, और जिस से आत्मा स्वयं घबराए, वह कर्म निन्दघ और शील के विपरीत था। विवाह सुव्यवस्थित हुआ। कोई नारी छाती को बिना ढांके बाजार में से नहीं गुजरती थी। भार-वाह के लिए सब चलने वाले मार्ग छोड़ देते थे।

७८. विवाह-व्यवस्था—मनु ने आठ प्रकार के विवाह स्वीकार किए। आदि धर्म-विधान में इन्हीं का ब्योरा है। विवाहों की यह प्रथा महाभारत-काल तक पूर्णतया मान्य रही। विवाह गुण, कर्म और स्वभावानुकूल होते थे। इन का विवरण निम्नलिखित है—

१. ब्राह्म—विनीता, कल्याणी[1], वय-युक्त कन्या को वस्त्रों आदि से युक्त तथा अलंकारों से अलङ्कृत करके ब्रह्मचारी, इच्छा करने वाले, श्रुत-शीलवान् सदृश वर को गृह में बुला कर कन्या-दान देना ब्राह्म विवाह है।

यह पद्धति साक्षात ब्रह्म-प्रोक्त है और आदि से इसका प्रचार हुआ, अतः यह ब्राह्म-विवाह है।

२. दैव—कन्या को अलङ्कृत करके यज्ञ करते हुए अनुकूल वर के लिए कन्या का देना दैव-विवाह है। यह प्रथा देवों में प्रचलित थी। वे यज्ञ बहुत

---

१. ऋग्वेद में आधिदैविक इन्द्र की जाया भी कल्याणी कही गई है। वह जाया वाक् है।

करते थे। उन्हीं यज्ञों में युक्त वर के मिलने पर विवाह कर दिया जाता था।

३. आर्ष—गोमिथुन साथ देकर वस्त्र-अलङ्कृता कन्या को योग्य वर के लिए देना आर्ष-विवाह था।

ऋषि लोग प्रायः वनों में रहते थे। वे धन, कनक आदि का सञ्चय नहीं करते थे। वे तपोधन होते थे, अथवा उनके पास गोधन रहता था। अतएव गो-युगल देकर और वस्त्रों से सुसज्जित कन्या को अर्पण करके यह विवाह सम्पन्न होता था।

४. प्राजापत्य—जब वर अथवा उसके माता-पिता कन्या-कुल से प्रार्थना करके कन्या-दान लें, तब वह प्राजापत्य विवाह होता है। इस की प्रथा २१ प्रजापतियों में चली थी। मनु भी प्रजापतियों में से एक थे, अतः यह प्राजापत्य विवाह कहाया।

५. आसुर—कन्या-पक्ष वालों को तथा कन्या-निमित्त शक्ति-पूर्वक धन देकर कन्या का ग्रहण करना आसुर-विवाह था।

असुरों अर्थात् दैत्यों और दानवों में यह प्रथा सर्वत्र प्रचलित थी। यवन इतिहासकार हैरोडोटस (विक्रम से लगभग ४०० वर्ष पूर्व) ने काल्डिया में लगभग इसी विवाह-प्रथा का उल्लेख किया है।

कई आचार्यों ने इसे मानुष-विवाह भी कहा है। जहाँ कन्या धन से खरीदी जाए, अथवा अन्यत्र दी जाने वाली कन्या के घर वालों को धन देकर अपने साथ उस का सम्बन्ध करा लेना आसुर अथवा मानुष-विवाह था।

६. गान्धर्व—जहाँ प्राप्त-यौवना कन्या और वर का परस्पर इच्छा से सम्बन्ध हो जाए, उसे गान्धर्व-विवाह कहते थे। ऐसा विवाह महाराज दुष्यन्त और अप्सरा कन्या शकुन्तला का था।

इसका प्रचार गन्धर्व जातियों में था। ये जातियां पंजाब के उत्तर-पश्चिम में बसती थीं। भारतीय क्षत्रियों में भी समय-समय पर ऐसे विवाह हुए हैं।

७. राक्षस—कन्या के सम्बन्धियों को मार कर चिल्लाती और रोती कन्या का अपहरण करना राक्षस-विवाह होता था।

इसकी प्रथा भारत के उत्तर में रहने वाली राक्षस जातियों में प्रचलित थी।

८. पैशाच—कन्या की प्रतारणा करके अथवा किसी अकेली सोई हुई वा अरक्षिता-कन्या को हर ले जाना पैशाच-विवाह था।

इनमें से पहले चार विवाह प्रशस्त माने जाते थे। कारण, वे आर्य लोगों के अनुकूल थे। शेष चार आर्य-बाह्य जातियों में लब्ध-प्रचार थे। असुर,

गन्धर्व, राक्षस और पिशाचों की भी कई जातियाँ त्रेता के आरम्भ से भारत में बसने लगी थीं। इनमें से असुर, राक्षस और पिशाच तो भारतयुद्ध में लड़े भी थे। उनमें जो रीतियाँ प्रचलित हो चुकी थीं, वैवस्वत मनु ने उनको अपने भारतीय धर्म-नियम का अङ्ग बना लिया। इसके विना धर्म-शास्त्र अधूरा रहता। इसलिए विवाहों की गणना आठ हो गई।

७९. विवाह-सम्बन्ध में वर्ज्य-लोग—आर्य लोग जानते थे कि जाति के निर्माण का आधार विवाह पर है। अतः विवाह की पवित्रता का बड़ा ध्यान रखा जाता था। जो रोग माता-पिता से सन्तति में जाते हैं, उन रोगों से पीड़ित व्यक्ति विवाह नहीं कर सकते थे। यथा—अर्श और कुष्ठ के रोगी। एक मनुष्य अथवा स्त्री का अविवाहित रहना अच्छा समझा जाता था, पर अगली पीढ़ी में अनेक रोगी लोगों का जन्म हेय समझा जाता था। इसी प्रकार पागल अथवा अर्ध-पागल लोगों का विवाह वर्जित था।

एक आश्चर्य-कर नियम और भी था। जो माता-पिता अपने पुत्र वा पुत्री का दोष बताये विना विवाह कर देते थे, और विवाह के अनन्तर उस दोष के कारण दम्पति में कलह का चक्र चलने लग पड़ता था, तो राज्य के न्यायालय से दोष न बताकर विवाह करने वाले माता-पिता दोनों दण्डित होते थे।

विवाह-मोक्ष (तलाक) आर्यों में प्रचलित नहीं था। अग्नि-पूर्वक हुए विवाहों में मोक्ष नहीं होता। शूद्रों और असुरों आदि के विवाहों में ऐसा नियम न था। धर्म-शास्त्र के आचार्यों ने आसुर-विवाहों में मोक्ष की छूट दी है।

उस काल के अधिकांश परिवार स्वर्ग का दृश्य उपस्थित करते थे। घर नरक न था। कर्तव्य का जीवन प्रधान था। अधिकार की रट न थी। जो कर्तव्य ऋषियों ने निश्चित कर दिए थे उनका पालन सब शिरोधार्य करते थे।

दरिद्रता का चिन्ह-चक्र न था। नारियाँ आभूषण-युक्ता होती थीं। कंजूसों का अभाव था।

८०. अभियोगों (मुकद्दमों) का अभाव—दण्ड कठोर होने के कारण पाप-वृत्ति न्यून थी। अभियोग शून्य के तुल्य थे। इससे पता चलता है कि पुराना समाज पर्याप्त सुखी था। वस्तुतः कठोर दण्ड ही प्रजा को धर्म-मार्ग पर चलाता है।

८१. आर्थिक स्थिति—मुद्रा का प्रचार आरम्भ हो गया था। मुद्राओं पर आर्य राजाओं के नामों के अंक रहते थे। ऐसे अंक अभी पढ़े नहीं जा सके। जब इनका रहस्य खुलेगा, तो इतिहास का एक नया पन्ना उल्टा जाएगा।

मुद्राओं के लिए सोना, चान्दी और ताम्र आदि धातु प्रयुक्त होते थे।

राजकोष भरे रहते थे। राजपुरुषों को भृति समय पर मिलती थी। व्यापारी लोग भी भृति सदा समय पर देते थे। प्रजा समृद्ध थी। वेद की प्रार्थनाएँ—हम धनों के स्वामी हों, प्रत्यक्ष में सिद्ध देखी जाती थीं।

प्राप्त-यौवना नारियाँ विवाह करती थीं। ऋग्वेद का उपदेश है कि वह नारी जनों में से स्वयं अपने मित्र अर्थात् पति का वरण करती है।

८२. **व्यापार**—आर्य वणिक्-व्यापारी भारत में ही व्यापार न करते थे। वे बड़े बड़े जलयानों में बैठ कर दूर देशों तक जाते थे। विदेशी लोग भी व्यापारार्थ भारत में आते थे।

रथकार, लोहकार, सुवर्णकार, तरखान, मूर्तिकला-विशेषज्ञ, चित्रकार, जुलाहे आदि अपने काम में चतुर थे। इनकी कला के नमूने दूर देशों तक जाते थे।

तुला और बाटों पर नियन्त्रण रहता था। इनमें कूट करने वाले दण्डित होते थे।

८३. दर्श, पूर्णिमा तथा पर्व के दिनों पर छुट्टी रहती थी। भृति का सब काम सौर-मास के अनुसार चलता था। यज्ञ आदि अन्य कामों में चान्द्र-मास का प्रयोग होता था।

८४. **कृषि**—कृषि की अवस्था बहुत अच्छी थी। पशु और धान्य की स्मृद्धि सर्वत्र दिखाई देती थी। दुर्भिक्ष रोकने के उपाय, नहरें और तड़ाक् आदि, राज्य की ओर से सुनियन्त्रित रहते थे। उद्यान और आराम आदि सर्वत्र फैले हुए थे। कृषिवल पुष्ट थे। कृषि-तन्त्र बन गये थे। दुःखी कृषक को अतिस्वल्प सूद पर राजा से ऋण मिलता था।

तत्कालीन दार्शनिक विचार

८५. **कपिल**—कृतयुग के अन्त और त्रेता के आरम्भ में कपिल मुनि हुए हैं। योरोपीय लेखक इन्हें मिथिकल (कल्पित) व्यक्ति कहते हैं। उनका कथन सर्वथा निःसार है। कपिल सदृश महान् वैज्ञानिक और परम तत्त्वदर्शी महा-पुरुष के जन्म से भारत-भूमि का गौरव है।

कपिल ने प्रकृति और पुरुष के ज्ञान का उपदेश दिया। प्रकृति के सम्पूर्ण परिणामों का अत्यन्त वैज्ञानिक निरूपण कपिल ने किया है।

पुरुष की सत्ता से साम्यावस्था प्रकृति में क्षोभ आया। रजोगुण प्रधान हुआ। इस विषमता से महान् उत्पन्न हुआ। महान् से अहंकार की सृष्टि हुई। यह अहंकार ही है, जिसके अस्तित्व के कारण प्रत्येक जीव अपने को

दूसरे से पृथक् समझता है। कीट-पतंग, पशु-पक्षी सब इसी अहंकार के आश्रय पर काम कर रहे हैं। अहंकार से भूतों की मात्राएँ वा गुण उत्पन्न हुए। उन से पृथिवी, अप, वायु, तेज और आकाश, पंचमहाभूत उत्पन्न हुए। पर पृथिवी को वर्तमान पृथिवी, और अप को जल समझना महती भूल है। महाभूत बहुत पहली अवस्था है। शनैः शनैः महदण्ड बना और सूर्य, चन्द्र, पृथिवी बने। फिर पृथिवी पर मनुष्य आदि उत्पन्न हुए।

जिस प्रकार सृष्टि बनी थी, उसी प्रकार इसका लय होगा। सूर्य का अग्निः बहुत बढ़ेगा। उस महान् ताप से पृथिवी पर सब प्राणियों का नाश हो जायगा। फिर पृथिवी पिघल कर, आर्द्रा-रूपी होकर जल में लीन हो जाएगी। जल आपः का रूप धारण करेगा। वे आपः वायु में लीन हो जायेंगी। वायु आकाश में और आकाश अपनी मात्रा में।

अमरीका के एक विद्वान् राईडर का कहना है कि संसार में इससे बढ़कर सन्तोषजनक वर्णन आज तक नहीं हुआ।

सांख्य का सिद्धान्त वेद-मन्त्रों पर आश्रित है। वेद के ज्ञान से ही कपिल अपने शास्त्र का निर्माण कर पाया। यही ज्ञान सब योगियों को अभिमत हुआ है। इसीलिए श्रीकृष्ण ने कहा था कि बालक ही सांख्य और योग को पृथक् मानते हैं। वस्तुतः सांख्य और योग एक ही विद्या है।

सांख्य का ज्ञान ही भगवद्गीता में वर्णित है। उपनिषदों में भी इसी ज्ञान का प्राधान्य है। बौद्धों के कभी अठारह सम्प्रदाय थे। उन्हें अष्टादशनिकाय-प्रभेद कहते हैं। उनका आधार भी सांख्य-ज्ञान था।

अंग्रेजी शब्द science और उसका मूल लैटिन शब्द scientia, इसी सांख्य शब्द के अपभ्रंश हैं।

कपिल मुनि ने महती-कृपा से यह अद्भुत मोक्ष-प्रद ज्ञान अपने शिष्य आसुरि को दिया। कपिल का शास्त्र बड़ा विस्तृत था। इस शास्त्र का उत्त-रोत्तर-संक्षेप यथा-स्थान लिखा जाएगा।

८६. **कर्ममात्र में अधिकार, फल में नहीं**—गीता का यह उपदेश पहले विवस्वान् को मिला। उसने अपने पुत्र मनु को दिया। मनु इस ज्ञान पर आचरण करता था। मनु के कारण प्रजाओं में भी यही आदर्श काम करता था, यथा राजा तथा प्रजा। इसके फलस्वरूप प्रजाएं बहुत सुखी थीं। भारत में लोलुपता तथा धैर्य-हीनता का प्रायः अभाव था। स्वार्थ बहुत न्यून था। कर्तव्य का ध्यान सब में सर्वोपरि था। पुरुषार्थ के साथ सन्तोष भी पूरा था। सभ्यता का अत्यन्त उच्च दृश्य था।

८७. चन्द्र-वंश—अत्रिवंश में चन्द्र अथवा सोम नाम के एक प्रतापी महा-पुरुष थे। उनका पुत्र सौमायन बुध था। उसकी पत्नी मनु की कन्या इला थी। उसका वंश ऐल-वंश कहाया। इसी वंश का दूसरा नाम चान्द्र-वंश था। बुध को राजपुत्र भी कहते थे। आर्य संस्कृति के लिए इस वंश के बहुत उपकार हैं। बुध ने तीन महान् शास्त्र रचे। एक था ब्रह्मा के ग्रन्थ के आधार पर रचा गया। इस शास्त्र के सैंकड़ों श्लोक उद्धृत-रूप में अब भी उपलब्ध हैं। भारत में सहस्रों वर्षों तक हस्ति-विद्या जानने वालों का इस से काम पड़ा है।

दूसरी रचना, बुध अथवा राजपुत्र का राजशास्त्र भी बहुत प्रसिद्ध रहा है।

तीसरी रचना थी मन्मथ अथवा काम तन्त्र की।

चान्द्र-वंश भारत के उत्तर-पश्चिम में फैला हुआ था। अतः देवों, आर्यों और असुरों में बहुधा मेल-मिलाप का काम इसी वंश का रहा है।

आठवाँ अध्याय

त्रेता के अन्त तक

८८. ज्ञान की महिमा—मनु और बुध से महाराज दशरथ तक त्रेता का काल चलता रहा। समय की गति से मानव-बुद्धि, मानव-सौन्दर्य में ह्रास तो अवश्य हुआ, पर प्रथाएँ लग-भग पूर्ववत् हीं रहीं। एक वार कई वर्ष तक भारी अनावृष्टि हुई। ऋषि लोग आहार की खोज में दूर-दूर पर्वतों की ओर चले गए। स्वाध्याय अर्थात् वेद-पाठ में विच्छेद हो गया। अनावृष्टि और दुर्भिक्ष की समाप्ति पर जब वे ऋषि पुनः अपने-अपने स्थानों को लौटे, तो उन्होंने अनुभव किया कि वेद उन्हें बहुत सा भूला है। परस्पर विचार के अनन्तर निर्णय हुआ कि सरस्वती-तीर-वासी सारस्वत ऋषि अथवा शिशु आङ्गिरस कवि के पास चलना चाहिए। उनका स्वाध्याय नष्ट नहीं हुआ।

जब सब ऋषि अध्ययनार्थ उसके समीप पहुँचे तो सारस्वत बोला। ठीक है; आओ पुत्रो, पढ़ो। आने वालों में से अनेक बहुत वृद्ध थे। वे सोचने लगे। यह सारस्वत हमें पुत्रक कहता है। इस कुतूहल को मिटाना भी कर्तव्य हुआ। तब निर्णय हुआ कि न वर्षों से अर्थात् वय के अधिक होने से, न केशों के श्वेत होने से, न धन से और न बन्धुओं से मनुष्य बड़ा होता है, जो अनूचान अर्थात् परम विद्वान् अथवा षडङ्गविद् और वेद-ज्ञाता है, वही वृद्ध और बड़ा है। तब सब ऋषि सन्तोष-पूर्वक सारस्वत से पढ़ने लगे।

आर्य संस्कृति में सदाचारी और ज्ञानवान् पुरुष की सदा प्रतिष्ठा रही है।

८९. यज्ञ-प्राधान्य—त्रेता के दीर्घ-काल में यज्ञों का बहुत प्रचार रहा। सतयुग में ज्ञान का प्राधान्य था। त्रेता में यज्ञ प्रधान हुए। पहले यज्ञाग्नि एक ही था। उसी में अग्निहोत्र आदि होते थे। त्रेता के आरम्भ में महाराज पुरुरवा ने यज्ञाग्नि का तीन में विभाग कर दिया। गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणा-अग्नि। दर्शपौर्णमास से ले कर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों के विधि-ग्रन्थ बने। ब्राह्मण ग्रन्थों अर्थात् ब्रह्म अथवा वेद के व्याख्यान-ग्रन्थों का प्रचार बढ़ा। वे ब्राह्मण ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं हैं। पर उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थों में उन में से कई एक के नाम मिलते हैं। यथा—

(१) इन्द्र के दिए ब्राह्मण। (२) उपसद् ब्राह्मण। (३) दिवाकीर्त्य ब्राह्मण। (४) धिष्ण्य ब्राह्मण। (५) वाजश्रवस ब्राह्मण। (६) हिरण्य ब्राह्मण,

इत्यादि । वर्तमान ब्राह्मण ग्रन्थों में इन से अतिरिक्त पुरातन ब्राह्मणों के शतशः वचन उद्धृत हैं ।

यज्ञ क्यों होते थे ? यज्ञ, आर्य-जीवन का अङ्ग तथा भारतीय संस्कृति का एक प्रधान अङ्ग थे, अतः उन के विषय में कुछ विवेचन अत्यन्त आवश्यक है । पहले हम समझा करते थे कि यज्ञ एक वृथा कर्मकाण्ड है । कर्मकाण्ड का जटिल विस्तार, अर्थहीन-विस्तार, न जाने, क्यों चल पड़ा । पर पैंतालीस वर्ष अध्ययन के पश्चात् हमें प्रकाश मिला । यज्ञों में सृष्टि-उत्पत्ति के विभिन्न अङ्गों का सूक्ष्म इतिहास और चित्रण है । उनके अविकल ज्ञान से मोक्ष मिलता है, ऐसा वैदिकों का अटूट-विश्वास था । यह बात हमारी समझ में आई । सत्य भी है कि यज्ञों द्वारा सृष्टि-उत्पत्ति का अत्यन्त स्पष्ट-ज्ञान प्राप्त होता है । यज्ञ के एक प्रकरण के अनुसार सिकता = रेत का वेदि के समीप रखना विहित है । इसलिए कि यज्ञ में पृथ्वी के ठोस होने का प्रकरण है । शिथिला पृथ्वी में जब रेत-कण बने, तभी पृथिवी ठोस होने लगी । उस घटना के स्पष्ट-ज्ञान के लिए याज्ञिक वहाँ रेत रखता है । जिस प्रकार विज्ञान की प्रयोग-शाला में सब कर्म प्रत्यक्ष देखा जाता है, उसी प्रकार यज्ञ की क्रिया में सृष्टि-उत्पत्ति की अनेक अवस्थाएँ प्रत्यक्ष देखी जाती हैं । यह सम्पूर्ण ज्ञान स्वर्ग के सोपान का काम करता है ।

यज्ञों में मांस—त्रेता के मध्य में यज्ञों में मांस-बलि आरम्भ हो गई । इतिहास इस का पता देता है । अनेक ऋषि इस के विरुद्ध थे । पहले युगों में पशु वेदियों के समीप बांधे जाते थे । वे द्यौ तथा अन्तरिक्ष की घटनाओं को दर्शाते थे । अब कुछ पतन का काल आया । मांस-प्रिय राजाओं ने अधिकार पकड़ा । उन पशुओं की बलि दी जाने लगी । इस बलि का प्रभाव सारे संसार पर पड़ा । यहूदी, ईसाई और इस्लामी मतों में बलि के अवशेष उसी काल के विचारों की देन हैं । अस्तु । भारत में क्षत्रियों में यज्ञ-बलि के अवशेष-मांस का भक्षण आरम्भ हो गया । पर जनक आदि राजा मांस न खाने वाले निवृत्ति-मार्ग के भी रहे । उन्हों ने स्कन्द, विष्णु आदि की निरामिष भोजन की मर्यादा स्थिर रखी थी । स्कन्द और विष्णु संसार भर के सेनापतियों में प्रमुख हुए हैं । इन्हीं के मार्ग पर कई क्षत्रिय त्रेता में भी चलते रहे । आज भी वैष्णव भोजन का अर्थ निरामिष भोजन है ।

६०. राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन—मनु भारत का एकमात्र राजा था । उस के पश्चात् राज्य अनेक भागों में, अर्थात् एक राजा के अनेक पुत्रों में बँटता गया । तब चक्रवर्ती राजा बनने लगे । जिस राजा के रथ का चक्र अव्याहत गति से सारी भारत भूमि पर घूम जाता था, वह चक्रवर्ती माना

जाता था। उसे सब बड़ा मानते थे। उसे कर देते थे। समय पड़ने पर उस की राजसभा में उपस्थित होते थे। उसके अश्वमेध आदि यज्ञों में भी उपस्थित होते थे।

६१. अस्त्र-विस्तार—देवासुर-संग्रामों से लेकर इस समय तक अनेक युद्ध हो चुके थे। वे युद्ध अब सरल प्रकार के युद्ध नहीं रहे थे। उन में दिव्य अस्त्रों का प्रयोग होने लग पड़ा था। यह दिव्यास्त्र ऋषियों की देन थे। अस्त्रों में कुछ एक के नाम ये हैं—

आग्नेय, वायव्य, वारुण, ऐन्द्र, जृम्भक आदि अस्त्र। दाशरथि राम के पास जृम्भकास्त्र था। इस का प्रभाव था, सहस्रों, लाखों सैनिकों को बाँध देना। कोई सैनिक हिल सकने के योग्य नहीं रहता था। आग्नेयास्त्र के प्रभाव से आकाश का अग्नि तत्त्व स्थूल रूप धारण कर चारों ओर अग्नि ज्वालाएँ उत्पन्न कर देता था। महाराज सगर ने इसी आग्नेयास्त्र के प्रभाव से अपने शत्रुओं को परास्त किया था। अस्त्रों का आविष्कार ऋषियों की सूक्ष्म-बुद्धि और उनके वैज्ञानिक होने का द्योतक है।

अस्त्र-प्रयोग में एक बात प्रधान थी। वह थी अस्त्रों के संहार की। अन्तर्राष्ट्रिय नियमों के अनुसार कोई महारथी ऐसा अस्त्र नहीं चला सकता था, जिस का वह संहार न कर सके। अतः अस्त्रों से जन-साधारण की अपरिमित हानि नहीं हो सकती थी। अस्त्र सिखाए भी उन्हें ही जाते थे, जो धर्मात्मा, ब्रह्मचर्य-नियम का पालन करने वाले और सच्चरित तथा तेजस्वी होते थे।

वर्तमान काल में बम्बों के प्रभाव का संहार कर लेने वाली क्रिया अभी तक अज्ञात है।

इस विषय पर त्रयोदश अध्याय में संख्या २ के अन्तर्गत अधिक लिखा गया है।

६२. चक्रवर्ती काल—भारतीय इतिहास में त्रेता के मध्य से कुछ पूर्व एक ऐसा काल आया जब बल की तुला कुछ-कुछ काल के पश्चात् हिली, और शक्ति का केन्द्र बदलता गया। पहले शक्ति यादव-कुल में एकत्र हुई। महाराजा शशबिन्दु चक्रवर्ती हुए।

उनके राज में एक विशेष नियम स्थिर हो गया। शशबिन्दु और उस के वंश में एक ही क्षत्रपति बनने लगा। उस के कनिष्ठ भ्राता उसके अनुजीवी होते थे। राज्य छोटे मण्डलों में बाँटा नहीं गया। इस से एक लाभ हुआ। शशबिन्दु के कुल की शक्ति पर्याप्त स्थिर रही।

६३. मान्धाता—दूसरा चक्रवर्ती इक्ष्वाकु-कुल का महाराज मान्धाता हुआ। वह चक्रवर्ती ही नहीं, सार्वभौम सम्राट् था। वह सप्त-द्वीप विजेता

हुआ। अफ्रीका, एशिया, योरोप, सब उसके कर-दाता बने। सूर्योदय के प्रदेश से लेकर सूर्यास्त तक का सारा प्रदेश मान्धाता के राज्य में था।

कर हटे—मान्धाता का काल भारतीय राज्य में बड़े वैभव का था। सम्राट् मान्धाता ने सब कर हटा दिए। प्रजाओं की प्रसन्नता का पारावार न रहा। देश की समृद्धि अतुलनीय थी। सप्तद्वीपों की कानों से धन निकाला गया।

इस समृद्धि में राजा और प्रजा धर्म-लाभ करते थे। यज्ञ-याग, दान-पुण्य बहुत हुए।

६४. मरुत्त—इस काल के तीसरे चक्रवर्ती मरुत्त थे। उन के काल के सुख आदि की कथा महाभारत, पुराण और ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लिखित है।

क्षत्रिय शूद्र हुए—मान्धाता के पश्चात् इक्ष्वाकु-वंश में हरिश्चन्द्र और सगर दो अन्य चक्रवर्ती सम्राट् हुए। उन में से सगर ने शक, यवन, काम्बोज, किरात और पह्लवों को भारी दण्ड दिया। तभी से ये क्षत्रिय जातियाँ यज्ञ आदि से रहित हो कर शूद्र बनीं। इन सब की भाषा कभी शुद्ध संस्कृत थी।

६५. अश्वमेधों की संख्या—एक-एक राजा कितने अश्वमेध करता था, इस का ज्ञान ऐतरेय ब्राह्मण के एक वर्णन से होता है। अप्सरा से उत्पन्न शकुन्तला के पुत्र चक्रवर्ती भरत ने ७८ अश्वमेध यज्ञ यमुना के, और ५५ गङ्गा के तटों पर किये। अर्थात् १३३ अश्वमेध-यज्ञ किए। प्रत्येक अश्वमेध का काल लगभग सवा वर्ष होता है। वह सम्राट् निस्सन्देह दीर्घजीवी था। उन दिनों मानव-आयु लम्बा था, यह निश्चित है।

६६. ऋषि आश्रम—त्रेता युग का सांस्कृतिक इतिहास अधूरा रहेगा, यदि इस युग के ऋषि-आश्रमों का कुछ वृत्तान्त लिखा न जाये। इन आश्रमों में ऋषि और उन के शिष्य रहते थे। दाशरथि राम के काल में और उन से पूर्व ऐसे चार आश्रम बहुत प्रसिद्ध थे।

(क) कण्व आश्रम—मालिनी नदी के तट पर कण्व मुनि का एक आश्रम था। इसी आश्रम में कभी शकुन्तला का पालन-पोषण हुआ था। सहस्रों ब्रह्मचारी, विद्वान् और मुनि यहाँ योग और विद्या का अभ्यास करते थे।

(ख) भरद्वाज आश्रम—एक आश्रम था भरद्वाज ऋषि का। ये महात्मा देवगुरु बृहस्पति के पुत्र थे। ऐतरेय आरण्यक में लिखा है कि ऋषियों में ये अनूचानतम और दीर्घजीवीतम थे। अनूचान अर्थात् परम विद्वान्। इन्हों ने व्याकरण शास्त्र, आयुर्वेद शास्त्र और विमान शास्त्र आदि अनेक शास्त्र रचे। इनके विमान शास्त्र के कुछ अंश मुद्रित भी हो चुके हैं।

इनका आश्रम तीर्थराज प्रयाग के समीप था। आश्रम में ऋषि, महर्षि, विद्वान्, ब्राह्मण, ब्रह्मचारी रहते थे। दाशरथि भरत जब राम को लिवाने के लिए जा रहे थे, तो भरत और उस की सेना का आतिथ्य इन्होंने किया था। इस आश्रम में हर्म्य और प्रासाद आदि थे।

(ग) **च्यावन आश्रम**—एक आश्रम था च्यवन-पुत्र वाल्मीकि ऋषि का। महाराणी सीता ने अपने अन्तिम दिन वहीं व्यतीत किए थे। लव और कुश की विनीति वाल्मीकि जी ने ही की थी। यह आश्रम भी बहुविधि छात्रों से सुशोभित रहता था। वाल्मीकि मुनि अपने काल के एक व्यास थे। उन्हों ने वेद-शाखाओं का प्रवचन किया था। एक याजुष-शाखा उन के नाम से प्रसिद्ध थी। इन के रामायण का उल्लेख आगे होगा।

(घ) **अगस्त्य आश्रम**—चौथा आश्रम था अगस्त्य मुनि का। ये ऋषि दक्षिण में अपना आश्रम बना कर रहते थे। उस स्थान के चारों ओर दण्ड-कारण्य था। नासिक-क्षेत्र से मुम्बई को जाते हुए रेल के मार्ग में इग्गतपुरी नाम का प्रसिद्ध स्टेशन है। उसके समीप एक पहाड़ी पर इनका सुरम्य आश्रम था। इग्गतपुरी अगस्त्य पुरी शब्द का अपभ्रंश है। इन्होंने ही राम को अनेक दिव्य अस्त्र दिए थे।

ये महामुनि अपनी पत्नी लोपामुद्रा के साथ वहाँ रहते थे। इनके आश्रम की एक विशेषता थी। कोई क्रोधी वहाँ प्रवेश नहीं पा सकता था।

(ङ) **अत्रि कुल**—ऋषियों में अत्रि का कुल अति विशाल था।[1] उन्होंने इस अभिप्राय से यज्ञ किए थे कि उनके कुल में ऋषि ही ऋषि जन्में। उन का फल था कि इस कुल में ऋषि ही नहीं, मन्त्रकृत ऋषिकाएँ भी उत्पन्न हुईं। अपाला इसी कुल की देवी थी।[1]

९७. आश्रमों का प्रजा पर प्रभाव—भारतीय जनता इन आश्रमों में आती जाती थी। वहाँ के निवासियों के शान्त और उन्नत जीवन को देख कर प्रजा के चरित्र का स्तर ऊँचा रहता था। कई दुःखी जन आश्रमों में रह कर शान्ति लाभ कर के लौट जाते थे। ऋषियों का अलौकिक जीवन सब के लिए आकर्षक और शिक्षादायक था। कभी दम्पति में कलह हो जाए, तो स्त्री, पुरुष आश्रमों में जा कर अपना निर्णय करा लिया करते थे।

१—१. जैमिनीय ब्राह्मण २।२१९॥

नवम अध्याय

(क) भारत में आयुर्वेद का अवतार

९८. हम लिख आए हैं कि सतयुग के आरम्भ में रोग नहीं था। इस युग के अन्त तक यह अवस्था कुछ कुछ बनी रही। फिर अधर्म का आरम्भ हुआ। क्रोध, लोभ का भी साम्राज्य होने लगा। भोजन-व्यवस्था में त्रुटियाँ आरम्भ हुईं। प्रजापराध भी होने लगे।

ऋतुओं में विषमता होने लगी। बड़े २ ग्राम, नगर आदि बन गए। ग्राम्याहार सर्वप्रिय हो गया। तब रोग का विस्तार होने लगा।

त्रेता में रोग थोड़ा था। उस समय ऋषि लोग और समय-समय पर अश्विद्वय चिकित्सा कर देते थे। अब रोग के बढ़ने पर एक ऋषि-सभा हुई। यह सभा हिमालय में हुई। निश्चय हुआ कि देव इन्द्र अष्टाङ्ग आयुर्वेद का सम्पूर्ण ज्ञान रखता है। उससे यह ज्ञान सीख कर भारत में इस का सुव्यवस्थित प्रचार करना चाहिए। पुनर्वसु आत्रेय और भरद्वाज इन्द्र के पास पहुँचे। वहाँ से वे विद्याग्रहण कर के आए। यह त्रेता का अन्त था।

पुनर्वसु आत्रेय, भरद्वाज, और धन्वन्तरि ने सैंकड़ों शिष्य, प्रशिष्यों को आयुर्वेद का ज्ञान दिया। अग्निवेश, हारीत, भेल, सुश्रुत, भोज, निमि आदि ने इस काल में अपने अपने शास्त्र रचे। निमि और कराल जनक ने आँख के १०० से ऊपर रोगों का वर्णन किया।

उस समय अष्टाङ्गायुर्वेद अनेक भागों में विभक्त हुआ। नर आयुर्वेद, अश्वायुर्वेद और गो आयुर्वेद इत्यादि।

९९. हस्ति आयुर्वेद-कर्ता पालकाप्य मुनि—महाराज दशरथ की एक कन्या थी। नाम था उस का शान्ता। उस कन्या को कलिङ्ग के राजा रोमपाद ने गोद लिया था। इस रोमपाद ने ऋषियों की एक महती सभा बुलाई। उस सभा में हस्ति-विद्या के सम्पूर्ण अङ्गों पर विवाद चलता रहा। अन्त में पालकाप्य मुनि ने ब्रह्मा और राजपुत्र के ग्रन्थों के आधार पर और अनुभवों के फलस्वरूप हस्ति विद्या का एक महान् शास्त्र रचा। यह बृहत्काय ग्रन्थ आज भी एक पाठ में मुद्रित रूप में मिलता है। इसका एक अन्य पाठ भी था।

१००. अश्व आयुर्वेद—इसी प्रकार शालिहोत्र का अश्वशास्त्र भी प्रसिद्ध हुआ। यह द्वादशसाहस्री ग्रन्थ लिखित रूप में अनेक प्रतियों में आज भी

मिलता है। शालिहोत्र मुनि ने एक सामसंहिता का प्रवचन भी किया था।

पंजाब में पशु-चिकित्सक को आज भी सलोत्री कहते हैं।

गो-विद्या पर भी ग्रन्थ बने।

१०१. इन ग्रन्थों का लाभ—नर आदि चारों प्रकार के आयुर्वेद का भारत में विस्तार हुआ। लोगों को स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रखने का अवसर मिला। हाथी, घोड़े और गौओं के स्वास्थ्य का भी ध्यान होने लगा। इन सब की चिकित्सा के लिए आरोग्य-शालाएँ (हस्पताल) बनने लगीं। इन के लिए राज और प्रजा-वर्ग ने दान देना आरम्भ किया।

इस आयुर्वेद का आधार पशु और मनुष्यों की उत्पत्ति के सिद्धान्त के ऊपर है। सत्त्व, रजस और तम से शरीर कैसे बने, यह ज्ञान योरोप में आज तक नहीं हुआ। इन तीन गुणों का शरीरों पर प्रभाव ज्ञात हुआ। इन्हीं पर भोजन व्यवस्था आश्रित हुई। अतः वात-पित्त-कफ का एकमात्र वैज्ञानिक सिद्धान्त संसार के सामने आया। भारत के लोग पहले भी शरीर-शास्त्र का ज्ञान रखते थे, पर आयुर्वेद के प्रचार से इस का बहुत विस्तार हुआ। मिश्र देश के सेस्सोस्ट्रिस (Sessostris) ने सुश्रुत के आधार पर आज से लगभग ५००० वर्ष पूर्व अपने देश में शरीर-विद्या का प्रचार किया।

भारत का शरीर-विज्ञान अति उन्नत था। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि अहोरात्र अर्थात् एक दिन रात में एक पुरुष २१६०० वार प्राण और अपान लेता है। अर्थात् एक मिनट में १५ वार। यही सिद्धान्त वर्तमान काल में जाना गया है।

(ख) रामायण ग्रन्थ

१०२. रामायण ग्रन्थ भार्गव वाल्मीकि की रचना है। भारत का यह आदि काव्य है। छन्दोबद्ध ग्रन्थ पहले भी थे। यथा—मानव धर्मशास्त्र, शुक्र-नीति आदि। पर छन्दोबद्ध रचना होने पर भी उन में काव्य-रस नहीं था। काव्य का रसास्वादन संसार ने सर्व-प्रथम इसी ग्रन्थ से लिया। रामायण काव्य है, इतिहास है, आख्यान है, चरित है और कथा भी है। एक ही ग्रन्थ में इतने गुण अन्यत्र दुर्लभ हैं।

१०३. पाश्चात्य मत—रामायण के विषय में पाश्चात्य ईसाई लोगों का मत है, कि यह ग्रन्थ ईसा से १००-२०० वर्ष पूर्व वर्तमान रूप में आया। अनेक चारण और भाट इस के वर्तमान रूप के कारण हुए। अमेरिका वासी हाप्किन्स ने लिखा है कि ग्रन्थरूपी रामायण महाभारत ग्रन्थ से उत्तर-कालीन है। पर अध्यापक विण्टर्निट्ज़ आदि महाभारत ग्रन्थ से रामायण ग्रन्थ को पूर्व-काल का

मानते हैं। वाल्मीकि के विषय में वे चुप्पी साधते हैं। योरोप के अनेक लेखक ईसाई पक्षपात के कारण ऐसी विद्या-विहीन कल्पनाएं करते हैं।

१०४. **भारतीय इतिहास साक्ष्य**—भारतीय इतिहास में पूर्वोक्त कल्पना का अंशमात्र भी दिखाई नहीं देता। भवभूति, शङ्कराचार्य, कुमारिल भट्ट, रघुकार कालिदास, भदन्त अश्वघोष आदि महा विद्वान् आचार्य और लेखक रामायण को मुनि वाल्मीकि की कृति लिखते आए हैं। महाभारत में स्वयं कृष्णद्वैपायन व्यास जी ने द्रोण और शान्तिपर्वों में भार्गव वाल्मीकि को रामायण का कर्ता माना है। बौद्ध आचार्य अश्वघोष केवल वाल्मीकि को ही नहीं जानता था, प्रत्युत उस के पिता च्यवन महर्षि का इतिहास भी जानता था। यदि आर्य इतिहास के इस प्रसंग में कोई भ्रान्ति उत्पन्न हो चुकी होती, तो बौद्ध मतानुयायी अश्वघोष इस पर अवश्य आक्षेप करता। वस्तुतः वाल्मीकि दाशरथि राम के समकालिक थे। उन्हों ने राम के राज्यकाल में ही इस महान् इतिहास की रचना की। माता सीता ने महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में ही लव और कुश को जन्म दिया। इन बालकों की शिक्षा-दीक्षा वाल्मीकि ने की।

१०५. रामायण के इस समय तीन पाठ उपलब्ध होते हैं। उत्तर, दाक्षिणात्य और वङ्गीय पाठ। इन तीनों पाठों में कुछ-कुछ अन्तर है, पर मूल-कथा सब में एक सी ही है। अतः इतिहास में कोई भेद नहीं हुआ।

१०६. आदर्श पुत्र, अनुगामी भाई, अलभ्य सेवक (हनुमान), सती-साध्वी धर्मपत्नी का चरित्र इस काल की देन हैं। वेद मन्त्रों की शिक्षा आर्य जीवन में कैसे चरितार्थ होती थी, उस का यह अलौकिक दृष्टान्त है। कवि लिखता है—उदय होता हुआ सूर्य लाल होता है, अस्त होता हुआ सूर्य भी अरुण ही दिखता है। इसी प्रकार अभिषेक की आज्ञा सुन कर राम का मुखमण्डल लाल था, और वनगमन की आज्ञा पा कर भी उनका मुख-कमल अरुण छटा ही दिखाता था। गाम्भीर्य की यह पराकाष्ठा है। पितृभक्ति की चरम सीमा है। राग-द्वेष, हर्ष-शोक राहित्य का यह निराला उत्कर्ष है। संसार में ऐसे दृश्य दुर्लभ हैं। राम ने कहा, यदि मैं पितृ-आज्ञा नहीं मानूंगा, तो सारे राष्ट्र में प्रजाएँ पितृ-आज्ञा का उल्लंघन करेंगी। देश में अव्यवस्था उत्पन्न होगी।

आर्य पद—इस शब्द का बड़ा महत्त्व रहा है। रामायण में इसका बहुधा प्रयोग हुआ है।

रामायण के काल में भारत के दक्षिण में रहने वाली वानर जाति का वीर हनुमान शिष्ट संस्कृत बोलने में अभ्यस्त था।

१०७. रामायण में त्रेता के अन्त के भारत का स्पष्ट चित्र मिलता है।

राम-राज्य का दिग्दर्शन अगले शब्दों में रामायण के आधार पर ही कृष्ण द्वैपायन व्यास जी ने कराया है। उसे पढ़ कर इस विषय में अधिक जिज्ञासा नहीं रहती। देखिए—

१०८. राम प्रजाओं पर औरस-पुत्रों के समान नित्य अनुकम्पा करता था। उस के राज्य में कोई अधन नहीं था। किसी का कोई अनर्थ नहीं होता था। मेघ कालवर्षी थे। खेतियाँ समय पर हरी भरी रहती थीं। सदा सुभिक्ष था। कोई पानी में डूबता नहीं था। अग्नि से व्यर्थ हानि नहीं होती थी। इसके विपरीत पूर्ण प्रबन्ध थे। दंश, मच्छर और व्याल आदि काटने वाले जीव-जन्तु राम-राज्य में नहीं थे। दीर्घ आयु वाले, नीरोगजन राम-राज्य में थे। एक दूसरे से लोगों का विवाद नहीं था। मुकद्दमे नहीं होते थे। जब स्त्रियों में भी परस्पर झगड़े नहीं थे, तो पुरुषों में कैसे हो सकते थे। प्रजाएँ धर्म में ठहरी रहती थीं। लोग सन्तोषी, निर्भय, स्वतन्त्रता युक्त और सत्यव्रत थे। वृक्ष फलों से लदे रहते थे। सारी गौएँ प्रतिकाल १६ सेर से ऊपर दूध देने वाली थीं। ऐसा आदर्श राज्य था। भारतीय-शिक्षा ही ऐसा राज्य स्थापित कर सकी। अन्य देशों का इतिहास इन दृश्यों से शून्य है। भारतीय संस्कृति का यह देदीप्य-मान दृश्य है।

१०९. उस अति प्राचीन-काल में लिपि-कला भारत में पूरी प्रचलित थी। राम के बाणों पर राम का नाम अंकित था। अन्य योद्धाओं के नाम भी उनके बाणों पर अंकित होते थे। यह अंकलिपि किस प्रकार की थी, इसका पता अभी तक नहीं लगा।

अङ्क लिपि भारत युद्ध काल तक प्रचलित थी। अर्जुन के बाणों पर पार्थनाम अङ्कित था।

दशरथ के काल में अयोध्या एक महान् विद्या-स्थान था। वहाँ मेखला-धारियों (ब्रह्मचारियों) का महासंघ था।

(ग) समकाल में राजा और ऋषि

१०९. त्रेता के अन्त में अथवा दाशरथि-राम के काल के आस-पास भारतीय संस्कृति को गौरव-प्रदान करने वाले कुछ और व्यक्ति भी हुए हैं। उन का स्थान समझने के लिए निम्नलिखित वंश-वृक्ष सहायक है।
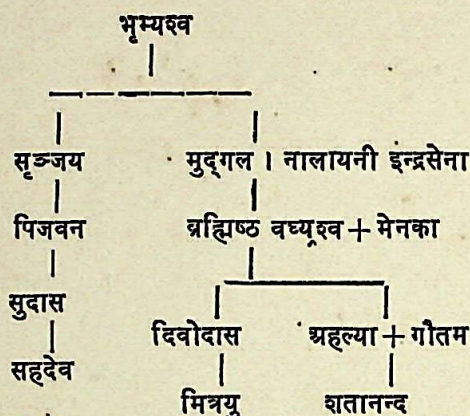
इस वंश-वृक्ष में उल्लिखित भृम्यश्व उत्तर-पांचाल का राजा था । उसके पांच पुत्रों में से एक सृञ्जय और दूसरा मुद्गल थे मुद्गल के साथ सुप्रसिद्ध महाराज नल की पुत्री इन्द्रसेना का विवाह हुआ । मुद्गल का पुत्र वध्यूश्व था । वध्यूश्व और अप्सरा मेनका की सन्तान में दिवोदास पुत्र और अहल्या कन्या, दो मिथुन थे । अहल्या गौतम मुनि से व्याही गई । उनका पुत्र शतानन्द महारानी सीता के पिता महाराज जनक का पुरोहित था ।

अब भारतीय संस्कृति में इस कुल के लोगों के विशिष्ट स्थान का वृत्तान्त देखिए । मुद्गल और वध्यूश्व दो महान् ऋषि हुए । दिवोदास भी इस पथ पर चला । उसने तप तपा, कि राजा होते हुए भी ऋषि हो जाऊँ । वह वैसा हो गया । मुद्गल, वध्यूश्व और दिवोदास की विद्वत्ता असाधारण थी । यद्यपि भारत के अन्य अनेक राजा भी विद्वान् हुए थे, पर ऋषि हो जाना सरल न था । ऋषि अपने ज्ञान के विषय में आप्त होते हैं । दिवोदास की बहन अहल्या राज-कन्या होकर भी ऋषि गौतम से व्याही गई । वह अप्सरा-कन्या थी । रामायण में इसी अहल्या का इतिहास प्रसिद्ध है ।

अनेक राज-कन्याएँ ऋषियों के साथ व्याही गई । वे राज्य-ऐश्वर्य त्याग कर सरलता और सादगी का जीवन बिताती थीं । इस से उस काल के आदर्श का यथार्थ ज्ञान होता है ।

१११. **पञ्चशिख**—जिन के ज्ञान की पांच शिखाएँ सदा प्रदीप्त रहती थीं, ऐसे महामुनि भिक्षु पञ्चशिख भगवान् कपिल की परम्परा में सांख्य शास्त्र के एक महान् उपदेष्टा थे । उन का शास्त्र अत्यन्त महत्त्व का था । उनका एक परं सम्मत शिष्य एक जनक था । वे कर्मबन्धन में नहीं, प्रत्युत अपनी इच्छा से जन्म लेने वाले मुक्त-पुरुष थे ।

पञ्चशिख के महान् शास्त्र के अनेक उद्धरण वाचस्पति मिश्र की व्यास-भाष्य की टीका और युक्तिदीपिका आदि सांख्य ग्रन्थों में मिलते हैं ।

दशम अध्याय

द्वापर से भीष्म पर्यन्त

११२. त्रेता की समाप्ति हो गई। युग के अन्त में अनेक भयंकर घटनाएँ होती हैं। त्रेता और द्वापर की सन्धि के अन्त में वे भी समाप्त हुईं। राम के राज्य में लोगों ने बहुत अधिक शान्ति पाई। युग-ह्रास के कारण जो रोग-आदि बढ़ने का भय था, उसे आयुर्वेद के प्रचार की सहायता से ऋषियों ने बहुत सीमा तक रोक दिया।

११३. इस समय के कुछ काल पश्चात् महाराज कुरु की प्रसिद्धि बढ़ी। उन्होंने कुरु-जाङ्गल देश को साफ कराया। इनके कुल में शन्तनु नाम के प्रख्यात राजा हुए। चिकित्सा-शास्त्र में ये निष्णात थे। इनका एकमात्र प्रतापी पुत्र देवव्रत भीष्म था। भीष्म का शौर्य अपने बाल्यकाल से ही चमत्कार-पूर्ण था। अल्प-वयस्क देवव्रत ने एक वार देवनदी गंगा के प्रवाह को अपनी बाण-वर्षा से रोक दिया। बाणों की पंक्तियाँ खड़ी थीं। प्रवाह आगे न बढ़ कर पीछे की ओर जाने लगा। अस्त्रबल का यह अभूतपूर्व दृश्य था। भारतीय इतिहास में देवव्रत की प्रतिज्ञा अपना महत्त्व-विशेष रखती है।

११४. पिता शन्तनु ने दाश-राज-कन्या सत्यवती से विवाह की इच्छा प्रकट की। उनका एक ही पुत्र, और वह भी सदा शस्त्रकार्य में दत्तमन रहता था। पिता सोचता था, ईश्वर न करे, यदि भीष्म पर विपत्ति आई, तो कुल की समाप्ति हो जाएगी। अतः उसके मन में दूसरे विवाह की बात तीव्र वेग से उठी। इस काम के सिद्ध करने के लिए देवव्रत नियुक्त हुआ। वह दाश-राज के पास पहुँचा। दाश-राज की सभा एकत्र हुई। उस भरी सभा में कन्या के पिता के सम्मुख भीष्म ने अपना प्रस्ताव रखा।

कन्या का पिता बोला। हे महाबाहो, निस्सन्देह तुम युक्त प्रस्ताव लाए हो। पर मेरा संशय भी सुनो। जिस के तुम वैरी हो जाओ, वह गन्धर्व हो वा असुर, तुम्हारे क्रुद्ध होने पर कभी जी नहीं सकता। इस प्रस्ताव में इतना ही दोष है, अन्य कुछ नहीं।

ऐसा कहे जाने पर उस राजसभा में अपने पिता के निमित्त देवव्रत ने उत्तर दिया। हे दाश-राज ! आप की कन्या से जो पुत्र होगा, वह हमारा राजा होगा। अपने पिता के लिए मैं ने राज छोड़ा। सभा में सन्नाटा था।

इतना उत्तर सुन कर दाशराज पुनः बोला । हे भरतर्षभ यह वचन तुम्हारे अनुकूल है । ऐसा दुष्कर-वचन और कोई कह नहीं सकता । हे धर्मात्मन्, आप सत्यवाक् हैं, पर घरों की स्त्रियाँ छोटे मन वाली होती हैं । कल को जो आप का पुत्र होगा, उस के विषय में हमें सन्देह है । वह आप के त्यागे राज-सिंहासन को पुनः प्राप्त करने का झगड़ा कर सकता है । आप के विषय में कोई सन्देह नहीं, पर आप के पुत्र-विषय में यह नहीं कह सकते ।

देवव्रत ने दाशराज का अभिप्राय समझा । पिता की प्रियकामना पूरी करने के लिए वह बोला । हे राजन्, मेरा वचन सुनो, अन्य बैठे राजा भी सुनें । मैं ने पहले राज-त्याग की बात कह दी थी । अपने पुत्र के विषय में मैं इस अपने परम-निश्चय को प्रकट करता हूँ । हे दाशराज, आज से लेकर मेरा ब्रह्मचर्य होगा । अपुत्र होने पर भी मेरे लोक अक्षय होंगे । मैं ने जन्म से ले कर कोई असत्य नहीं बोला । मेरी प्रतिज्ञा सत्य होगी ।

क्षत्रिय-वीर स्तब्ध थे । इस भयानक प्रतिज्ञा पर सभास्थ लोगों को रोम-हर्ष हुआ । उन के नेत्र सजल हो गए । भीष्म अपनी माता को ले आया । सारा राज्य चकित था । यह भीष्म-प्रतिज्ञा थी । देवव्रत भीष्म हो गया ।

भारतीय संस्कृति की विशेषता है । राम ने पिता के कारण वनवास स्वीकार किया । भीष्म ने आजन्म ब्रह्मचारी रहने की अति कठोर प्रतिज्ञा की । पितृ-प्रसन्नता का उपाय करना इस देश के वीरों में निहित रहा है ।

सत्य प्रतिज्ञ होने का ऐसा उदाहरण भारत में ही मिलता है ।

भीष्म का अधिक समय राज्य के मन्त्रित्व, सत्संग और विद्याध्ययन में गया । वे अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और वेद के पारंगत पण्डित हुए ।

कौणपदन्त भीष्म-रचित अर्थशास्त्र विष्णु-गुप्त द्वारा बहुधा उद्धृत मिलता है ।

११५. संसार ह्रास की ओर जा रहा था । पहले की अपेक्षा चरित्र नीचे हो गया था । व्यापार में दोष उत्पन्न हो गए थे । सत्य में न्यूनता होती जा रही थी । स्वार्थ बढ़ रहा था । गृह-कलह भी अपना रंग जमाना आरम्भ कर रहा था । पर ऋषि लोग भारतीय संस्कृति की रक्षा में तत्पर थे ।

१, कृष्ण द्वैपायन व्यास और वेद-शाखा-प्रवचन

११६. पराशर के पुत्र श्री वेदव्यास सम्पूर्ण विद्याएँ जानते थे । भविष्य की काली रात्रि देख कर उन्हों ने सुमन्तु, जैमिनि, वैशम्पायन और पैल, इन चारों शिष्यों को और अपने प्रिय-पुत्र शुकको वेद पढ़ाए । इन चार शिष्यों ने

वेदों के चरणों और वेद शाखाओं का प्रवचन किया। त्रेता के आरम्भ से लेकर, जो वेद-ज्ञान सर्वत्र बिखर रहा था, उस का सम्पादन चरणों आदि में किया गया। शाखाएँ मन्त्रों का व्याख्यान आदि हैं। थोड़ा-थोड़ा पाठान्तर करके ये व्याख्यान किए गए थे। उन्हें व्यास के शिष्यों ने एकत्र कर दिया।

ब्राह्मण ग्रन्थ—वर्तमान ब्राह्मण ग्रन्थ उसी काल के प्रवचन हैं। ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण का महिदास ऐतरेय ने प्रवचन किया। इसी प्रकार ऋग्वेद का कौषीतकि ब्राह्मण बना। यजुर्वेद के तैत्तिरीय और शतपथ ब्राह्मण आज भी मिलते हैं। शतपथ ब्राह्मण का मूल वाजसनेय ब्राह्मण था। उस का प्रवचन-कर्त्ता था याज्ञवल्क्य। यह ब्रह्मिष्ठ मुनि अपने युग का असाधारण विद्वान् था। विज्ञान की थाह इस ने प्राप्त की थी। परमाणु से ले कर सूर्य-पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान इसे हस्तामलकवत् था।

शतपथ ब्राह्मण के षष्ठ काण्ड में सृष्टि-उत्पत्ति का वैज्ञानिक तत्त्वों से भरपूर वर्णन है।

इसी प्रकार सामवेद का ताण्ड्य ब्राह्मण आज मिलता है। सामवेद का एक दूसरा बड़ा ब्राह्मण जैमिनीय ब्राह्मण भी है। इस का प्रवचन-कर्त्ता मुनि जैमिनि था। वह भी याज्ञवल्क्य के समान विद्यानिष्ठ था। साम के छोटे-छोटे सात और ब्राह्मण ग्रन्थ मिलते हैं।

अथर्ववेद का केवल एक ब्राह्मण ग्रन्थ मिलता है। वह है, गोपथ ब्राह्मण।

ये ब्राह्मण ग्रन्थ अति पुराने ब्राह्मण ग्रन्थों का रूपान्तर हैं। इन में स्थान-स्थान पर पुराने राजाओं और ऋषियों के इतिहास भी मिलते हैं। जिस प्रकार भारत में वेदों और उन की शाखाओं को ब्राह्मण कण्ठस्थ करते रहते हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों को भी कण्ठस्थ करते चले आते हैं। आज भी भारत में सैंकड़ों कुल इस आर्य-विद्या के रक्षण में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं।

आरण्यक ग्रंथ—ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तिम भाग में आरण्यक ग्रंथों का प्रवचन निबद्ध है। इस नाम का कारण है। वीतराग ऋषियों ने वनों में बैठ कर जो आध्यात्मिक ज्ञान दिया, वह आरण्यकों में लिखा गया। इन्हें रहस्य-ब्राह्मण भी कहते हैं। इस का अर्थ है वेद और आत्म-विषयक रहस्यमयी वा छिपी बातों का व्याख्यान।

उपनिषद् ग्रन्थ—आरण्यकों के समान ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तिम भाग में उपनिषद् हैं। उपनिषद् का अर्थ है, गुरु के समीप बैठ कर जो आध्यात्मिक-ज्ञान प्राप्त किया जाए। आरण्यक कुछ बड़े हैं और उपनिषद् छोटे। उपनिषदों में ग्यारह प्रधान हैं। उन के नाम हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य,

ऐतरेय, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य और श्वेताश्वतर । तीसरा, पाँचवाँ छठा, सातवाँ, आठवाँ, और ग्यारहवाँ नाम उन के प्रवचनकर्ता ऋषियों के नाम पर हैं । प्राय: ये लोग महाभारत-काल के ऋषि हैं ।

ये ग्रन्थ भारत की अतुलनीय सम्पत्ति हैं । वेद-ज्ञान कठिन है, पर उपनिषदें सरल भाषा में और एक अनुपम माधुर्य लिए हैं । इन्हें पढ़ते ही बादशाह दारा शिकोह मस्त हो गया । इन्हें पढ़ कर जर्मनी का प्रसिद्ध दार्शनिक शापन-हायर बोल उठा—ये मेरे जीवन का आधार हैं । ये मेरे मृत्यु में भी परम सन्तोष का स्थान होंगी । इति ।

उपनिषद्-ज्ञान की इस महती प्रशंसा को देख-सुन कर योरोप का ईसाई मण्डल दारुण क्रोध में आया । उसने भारतीय ज्ञान को धूमिल करने के लिए सिर से पैर तक का बल लगाना आरम्भ कर दिया ।

उपनिषदें अनेक पुराने इतिहास भी सुरक्षित करती हैं । यथा—केकय देश (बन्नू, कोहाट आदि देश) के राजा अश्वपति के पास अनेक ऋषि गए । राजा ने धनादि से उन का सत्कार किया । ऋषियों ने वह धन ग्रहण नहीं किया । इस पर उदास राजा ने कहा—मेरे जनपद में कोई चोर नहीं, कञ्जूस नहीं, अविद्वान् नहीं । दुराचारी नहीं, मद्यप (शराबी) नहीं । अनाहिताग्नि नहीं । दुराचारिणी स्त्री की फिर बात ही नहीं । आप मेरा शुद्ध धन क्यों ग्रहण नहीं करते । इति ।

कैसे सुन्दर समय के संकेत हैं ?

भगवद्गीता इन्हीं उपनिषदों का सार है । उपनिषदें पढ़ कर भारत की पुरानी आत्म उन्नति का चित्र सामने आ जाता है । ऋषियों की विभूति आँखों को चौंधिया देती है । हृदय प्रेम, श्रद्धा और ज्ञान-पिपासा के लिए उछलता है । सत्त्व गुण सर्वोपरि हो जाता है । उपनिषदों में पुराने आख्यानों की भरमार है । सच्चे भारतीय इतिहास के ज्ञान विना इन की पूरी समझ कठिन है । ये कल्पित ग्रन्थ नहीं हैं । इतिहास और उपदेश की सरिता इन में बहती है ।

इन ग्रन्थों से पता लगता है कि महाभारत के निकृष्ट काल में भी संस्कृति में अपना आकर्षण था, और पर्याप्त आकर्षण था ।

योरोपीय ईसाई लेखकों ने ब्राह्मणों और उपनिषदों का काल ईसा से ७०० वर्ष पूर्व से १२००वर्ष पूर्व तक का रखा है । यह कल्पना-मात्र है । श्री व्यासजी और उन के शिष्य भारत-युद्ध-काल से कुछ पूर्व और कुछ पीछे तक जीते रहे । तलवकार अथवा केन उपनिषद् जैमिनि ऋषि का प्रवचन है । वह भी महा-

भारत-काल का था। उन उपनिषदों को ईसा से ६००-७०० वर्ष पहले का कहना इतिहास के साथ उपहास करना है।

वर्तमान दर्शन शास्त्र

१. कपिल और उन के सांख्य-दर्शन का वृत्त पहले यथा-स्थान लिखा जा चुका है। पञ्चशिख और उन के शिष्य देवल और हारीत के सांख्य विषयक विशाल ग्रन्थ भी व्यास-काल से पहले रचे जा चुके थे। षष्टितन्त्र नामक वृहद्ग्रन्थ भी रचा जा चुका था।

२. वैशेषिक दर्शन

११७. कणाद—व्यास जी के वेद-प्रवचन-काल से कुछ ही पहले कणाद मुनि हुए। वे अत्यन्त पवित्र जीवन के महा पुरुष थे। उन के नाम का कारण है। किसान लोग गेहूँ आदि अन्नों के जो कण खेतों में बिखरे छोड़ जाते थे, उन्हें ऋषि लोग एकत्र कर के अपनी उदर-पूर्ति किया करते थे। इस का यथार्थ अभिप्राय अति सूक्ष्म है। जब किसान खेती उत्पन्न करता है, तो हल चलाने और खेत को पानी देने आदि के समय अनेक कीट आदि मरते हैं। किसान के एकत्र किए अन्न के साथ कीट आदि के मरण का पाप लगा रहता है। गृहस्थों को उपदेश है कि पञ्चयज्ञ करके उस पाप की निवृत्ति करें। परन्तु ऋषि उच्च कोटि के व्यक्ति थे। वे किसान के खेत में छोड़े हुए अन्न के दानों को एकत्र कर लेते थे। वह उन का भोजन होता था। कणाद ऐसे ऋषियों में अति श्रेष्ठ था। उन का नाम ही कणभुक् अथवा कणाद हो गया।

ऐसे आत्म-ज्ञानी ने अपने योगबल से वैशेषिक विद्या का दर्शन पाया। वह विद्या वैशेषिक शास्त्र में लिखी है। छठी शती ईसा के एक चीनी ग्रन्थकार का लेख है कि कभी यह मूल शास्त्र एक लाख श्लोक का था। अब तो उस के कतिपय सूत्र ही शेष हैं। पुराने ग्रन्थों में लिखा है कि कभी किसी रावण पण्डित का एक बहुत विस्तृत भाष्य भी इन सूत्रों पर था। एक और विस्तृत भाष्य आत्रेय के नाम से भी प्रसिद्ध था।

अध्यापक एफ. डब्ल्यू थामस का मत है कि वैशेषिक सूत्र ईसा पूर्व पहली शती में संकलित हुआ। पूर्व-वर्णित चीनी लेखक वैशेषिक सूत्र की रचना बुद्ध से ८०० वर्ष पूर्व मानता है। स्मरण रहे कि एक चीनी गणना के अनुसार विक्रम संवत् से लगभग १००० वर्ष पूर्व बुद्ध हुआ था।

प्रशस्तपाद—वैशेषिक शास्त्र पर पदार्थ-धर्म-संग्रह नामक एक अन्य ग्रन्थ

है। उस का रचयिता था प्रशस्तपाद अथवा प्रशस्तमति। यह स्वतन्त्र ग्रन्थ है और सम्प्रति प्राप्त है।

शङ्कराचार्य के वेदान्त-प्रचार से इस शास्त्र का अध्ययनाध्यापन भारत में उच्छिन्न हुआ है।

द्रव्य और गुण अथवा धर्म—वैशेषिक शास्त्र में पदार्थ अथवा द्रव्य और धर्म अथवा गुणों का विस्तृत व्याख्यान है। कणाद नौ द्रव्य मानता है। वे हैं—पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। गुण इन द्रव्यों के साथ रहते हैं। पाँच भौतिक द्रव्यों में से जब किसी एक द्रव्य से उस का गुण पृथक् हो जाए, तो वह अपने से पूर्व द्रव्य में लीन हो जाता है। यथा-जब भूमि में से गन्ध गुण पृथक् हुआ, तो भूमि प्रलय के लिए तैयार हो गई, और आप: में लीन हो गई।

सांख्य-शास्त्र में लिखी गई सृष्टि-उत्पत्ति और प्रलय की अनेक घटनाओं को वैशेषिक-शास्त्र विज्ञान द्वारा सिद्ध करता है। इस में विज्ञान के अनेक रहस्य बड़ी सरलता से खोले गए हैं। यदि इस शास्त्र के सिद्धान्तों की वैज्ञानिक दृष्टि से गम्भीर गवेषणा की जाए, तो वर्तमान विज्ञान में एक नए युग का आरम्भ हो सकता है। इङ्गलैण्ड का अध्यापक कीथ ऐसे प्रयास पर उपहास करता है। पर उस का उपहास साधार नहीं।

प्रमाण—वैशेषिक मुख्य रूप से दो प्रमाण मानता है। प्रत्यक्ष और लैङ्गिक (=अनुमान)। लैङ्गिक प्रमाण का एक भेद ऐतिह्य है। प्राचीन भारत के सब ऋषि-महर्षि ऐतिह्य अथवा इतिहास की महत्ता को समझते थे। वे अपना इतिहास सदा से सुरक्षित रखते रहे।

ज्ञान के विषय में वैशेषिक आर्ष-ज्ञान को बड़ा महत्त्व देता है। यह विषय आर्य-संस्कृति की ही देन है। ऋषियों को किस प्रकार से भूत, भव्य और भविष्य का ज्ञान होता है, यह इस शास्त्र में प्रतिपादित है।

वैशेषिक में वेद-मन्त्रों का प्रादुर्भाव हिरण्यगर्भ अर्थात् प्रजापति पुरुष से माना है। वह वेद अथवा आम्नाय को मनुष्य की कृति नहीं मानता, और इसे प्रमाण मानता है।

परमाणु—अणु और परम-अणु का ज्ञान वैशेषिक में है। परमाणुओं के संयोग से सृष्टि-उत्पत्ति किस प्रकार हुई, यह भी इसी शास्त्र में व्याख्यात है। भारतीय अस्त्र-विद्या के इतिहास में परमाणु-वाद का विशेष स्थान है।

३. न्याय दर्शन

११७. न्याय अथवा तर्क शास्त्र के रचयिता भगवान् अक्षपाद-गौतम थे। गौतम गोत्र-नाम है और अक्षपाद गुणवाची नाम। भास कवि के अनुसार इन का वास्तविक नाम मेधातिथि था। महाभारत में मेधातिथि गौतम अहल्या का पति कहा गया है। बहुत संभव है, वह दीर्घजीवी हुआ और उस ने अपने जीवन के अन्त में न्यायशास्त्र रचा हो।

योरोपियन लेखकों ने न्यायशास्त्र का काल प्रथम शती ईसा माना है। वस्तुतः यह ठीक नहीं। न्याय सूत्रों पर विष्णुगुप्त वात्स्यायन मुनि का भाष्य मिलता है। इस पर उद्योतकर भारद्वाज का वार्तिक है। वह बौद्ध आचार्य दिङ्नाग (समुद्रगुप्त के समकालिक) का खण्डन करता है।

महात्मा अक्षपाद मुनि-प्रवर थे। इन्होंने पञ्चाध्यायी न्यायशास्त्र में सोलह पदार्थों की व्याख्या की है। वे पदार्थ हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन आदि। इन का मत था कि इन १६ पदार्थों के तत्त्व-ज्ञान से मोक्ष हो जाता है। प्रमाणों में प्रत्यक्ष प्रमाण प्रधान है। अक्षपादकृत प्रत्यक्ष के लक्षण का सारा उत्तरवर्ती संसार अनुजीवी है। गौतम के लक्षण में थोड़ा-थोड़ा हेर-फेर कर के सब ने अपना अभिमत लक्षण बनाया है।

गौतम की महती-प्रतिभा से ही तर्क-शास्त्र में प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण की परम्परा-सरिता वही है। गौतम शब्द-प्रमाण को मानता था। इसी शब्द-प्रमाण के अन्तर्गत वह ऐतिह्य का समावेश करता है। शब्द-प्रमाण द्वारा वह वेद का प्रामाण्य करता है और ऐतिह्य के अन्तर्गत वह इतिहास-पुराण का।

समान-द्रष्टा-प्रवक्ता—गौतम मानता है कि जिन ऋषियों ने वेदार्थ का दर्शन कर के ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रवचन किया, उन्हीं ऋषियों ने इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र आदि बनाए। इस लेख के समक्ष पाश्चात्य लेखकों का निर्मूल मत—कि ब्राह्मण ग्रन्थों से बहुत उत्तर काल में इतिहास आदि रचे गए, सर्वथा हेय है।

गौतम की बुद्धि सूक्ष्म थी। उसने एक ही सूत्र में स्मृति की उत्पत्ति तथा उसके ठीक रहने के अठारह हेतु दिए हैं। इस विषय का इतना गहरा प्रदर्शन संसार के वाङ्मय में अन्यत्र नहीं है। न्याय का यथार्थ ज्ञान करके मनुष्य तार्किक हो जाता है और दूसरों से धोखा नहीं खाता।

परमात्मा, आत्मा और प्रकृति का विवेचन तथा पुनर्जन्म के होने में अकाट्य हेतु इस दर्शन में हैं। हेत्वाभासों की छटा भी यहाँ उपलब्ध है। इस का अधिक वर्णन आगे होगा।

संवत् ८९८ में महान् दार्शनिक वाचस्पति मिश्र ने उद्योतकर के ग्रन्थ पर अपनी टीका लिखी और उसके कुछ काल पश्चात् उदयन ने। उदयन की कुसुमाँजलि में ईश्वर-सिद्धि पर अद्भुत तर्क हैं। इस ग्रन्थ से न्याय के महत्त्व का ज्ञान हो जाता है।

४. योग शास्त्र

११९. पहले संख्या २९।१ के अन्तर्गत लिखा जा चुका है कि भगवान् ब्रह्मा ने एक विस्तृत योग शास्त्र रचा था। उसके पश्चात् अनेक ऋषियों ने योग पर ग्रन्थ रचे। उन प्राचीनतम ग्रंथों में जैगीषव्य मुनि का शास्त्र भी महत्त्वपूर्ण था। इनको दस महासर्गों में हुए अपने पुराने जन्मों का ज्ञान हो गया था। कभी मनुष्य बनना, कभी ज्ञानी होना, कभी तिर्यक् योनि में जाना, इन्हें सब का प्रत्यक्ष हो गया।

१२०. शिव का योगशास्त्र—इसे माहेश्वर योगशास्त्र भी कहते हैं। इस का प्रवक्ता शिव अथवा रुद्र था। श्रीकृष्ण ने जब कहा—पश्य मे योगमैश्वरम्। तो ऐश्वर पद से उन का संकेत इसी योग की ओर है।

१२१. महाभारत काल से कुछ पहले पतञ्जलि नाम के एक मुनि हुए। उन्होंने योगदर्शन रचा, जो इस समय उपलब्ध होता है।

इस योग दर्शन में चार पाद हैं। प्रथम पाद में चित्त-वृत्तियों के निरोध आदि का कथन है। ये वृत्तियाँ और वासनाएँ मनुष्य को किस प्रकार इधर-उधर खींचती हैं, इस का निरूपण देखने योग्य है। यम-नियमों की व्याख्या बहुत उपादेय है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये पाँच यम हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-परायण हो जाना, ये पाँच हैं। योग-सोपान के ये दस दण्ड हैं। इन पर चढ़े विना योग-प्राप्ति नियम असम्भव है।

योगी मांस-भोजन का निषेध करते थे। वे सत्य पर बड़ा बल देते थे। ब्रह्मचर्य उनका लक्ष्य था। यम और नियमों को वे एक-साथ अभ्यास में लाते थे।

योग की आधार-शिला एकाग्रता है। इस के लिए योग में जप का उपदेश है। योगी ऋतंभरा बुद्धि को प्राप्त करता है। उसके द्वारा वह सत्य को जानता है।

सिद्धियां—योगी मोक्ष को प्राप्त होता है। योग-शास्त्र में इसे कैवल्य-प्राप्ति कहा है। इससे पूर्व योगी को सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। वह अपने आसन पर बैठा सैंकड़ों कोस दूर का वृत्त जानता है। सैंकड़ों-योजन दूर का

शब्द सुन लेता है। आकाश में इसी शरीर-मात्र से उठ सकता है। चन्द्र, तारा, सूर्य का ज्ञान यहीं बैठा प्राप्त करता है। इत्यादि। ये बातें असम्भव नहीं हैं। इस विद्या में अभ्यास करने वाले ही इन्हें जान सकते हैं।

सिद्धियों की सूचना—जब अपने आपको और पृथिवी को भी प्रदीप्त देखता है। दूसरा शरीर बना कर स्वयं उसमें प्रवेश करता है, तो समझो कि सिद्धि उपस्थित हो रही है। योग के उपसर्ग का यह फल है।[१] इति।

इस्लामी सूफियों पर योग और वेदान्त का बड़ा प्रभाव पड़ा है। योरोप में इस विद्या का अंश भी नहीं है।

५. मीमांसा शास्त्र

१२२. मीमाँसा का अर्थ है, वेद-वाक्य परीक्षा। एक ही विषय में जहाँ स्थूल दृष्टि से दो विरोधी वाक्य हों, उनमें विरोध का परिहार करना उन वाक्यों की मीमांसा है। यथा, कुछ स्थानों में कथन है कि सूर्योदय पर हवि देवे। अन्य स्थानों में विधान है, सूर्य उदय होने से पूर्व ही हवि देवे। इसका परिहार यह है कि संसार के भिन्न-भिन्न स्थानों और भिन्न-भिन्न ऋतुओं में सूर्य विभिन्न समयों पर उदय होता है। तदर्थ जिसने अपने लिए जैसा नियम किया है, उस एक ही नियम का सदा पालन करे। उसमें परिवर्तन न करे। अथवा एक ऋतु में एक प्रकार से करे और दूसरे ऋतु में दूसरे प्रकार से। ऐसी संगति लगाने से विरोधाभास दूर होता है।

श्रुति को अपौरुषेय और परमपवित्र मानकर ही उसके स्थूल विरोधाभासों का दूर करना आवश्यक था, अतः मीमांसा की आवश्यकता पड़ी। वेद को मानव वाक्य मानकर ऐसी आवश्यकता व्यर्थ थी।

१२३. मीमांसा पर अति प्राचीन काल से शास्त्र बन रहे थे। एक ऐसा शास्त्र काशकृत्स्न का था। उपलब्ध मीमाँसा दर्शन जैमिनि मुनि की कृति है। जैमिनि कृष्ण द्वैपायन व्यास का शिष्य था। इसने सामवेद के जैमिनि ब्राह्मण का भी प्रवचन किया था। महाभारत युद्ध से पूर्व ही वह बहुत वृद्ध था।

१२४. योरोपियन लेखक जैमिनिकृत मीमांसासूत्र का काल ईसा-पूर्व ३००-१०० तक रखते हैं। इतिहास से अनभिज्ञता के कारण वे ऐसा करते हैं।

मीमांसा पर बौधायन की वृत्ति थी। यह बौधायन भारत युद्ध से १५० वर्ष पश्चात् जीता था। इस सूत्र पर उपवर्ष ने महान् भाष्य रचा। उपवर्ष

---

१. वायु पुराण। ११।६४॥

पाणिनी का गुरु और भारत युद्ध के १७० वर्ष पश्चात् था। भारत इतिहास में दो उपवर्ष नहीं हुए। उपवर्ष के पश्चात् विक्रम-संवत् से बहुत पूर्व देवस्वामी ने मीमांसा का उपवर्ष-भाष्य संक्षिप्त रूप वाला किया।[1] उसके बहुत काल पश्चात् भर्तृहरि आदि ने मीमांसा पर टीका ग्रन्थ रचे। तत्पश्चात् शवर स्वामी ने अपना प्रसिद्ध भाष्य रचा, जो इस समय मुद्रित है। अतः मीमांसा का काल वह नहीं, जो योरोपियन मानते हैं। भारतीय-परम्परा ने अपने आचार्यों का ठीक काल सुरक्षित रखा है।

भट्ट कुमारिल और प्रभाकर गुरु के ग्रन्थ भी शवर के पश्चात् इसी शास्त्र पर रचे गए।

१२५. मीमांसाकार वेद को मनुष्यकृत नहीं मानता। वह आत्मा को अजर-अमर मानता है। पुनर्जन्म में उसका पूरा विश्वास है। यज्ञों के महत्त्व पर वह बहुत बल देता है। ब्राह्मण ग्रन्थों और कल्पसूत्रों में वर्णित यज्ञ के विधि-विधानों का वह सूक्ष्मता से विवेचन करता है। इस शास्त्र का वेदार्थ पर अतुलनीय प्रभाव पड़ा है। धर्म-शास्त्रों के अर्थनिर्णय पर भी इस दर्शन का प्रभाव है।

६. वेदान्त दर्शन=ब्रह्मसूत्र=शारीरक सूत्र

१२६. वैदिक लोगों का यह अन्तिम दर्शन है। कभी वेदान्त और मीमांसा एक ही ग्रन्थ के दो भाग थे। उत्तर-काल में ये पृथक्-पृथक् हुए। इस दर्शन का कर्ता महर्षि बादरायण था। अनेक आचार्य वेद-व्यास का ही अपर-नाम बादरायण कहते हैं। दूसरे आचार्य वेदव्यास के समकालिक एक अन्य ऋषि का यह नाम मानते हैं।

१२७. वेदान्त का अर्थ है, वेद अथवा ब्रह्म-विषयक अन्तिम उपदेश। शरीर में होने वाले आत्मा का निरूपण करने से इसे शारीरक-सूत्र भी कहते हैं। पहले यह शास्त्र सांख्य-शास्त्र का ही एक अवान्तर भाग था। इसमें और सांख्य में भेद नहीं था। सांख्याचार्य पंचशिख के वेदान्त सूत्रों का संकेत पुराने आचार्यों के ग्रन्थों में मिलता है। अस्तु।

१२८. कह चुके हैं, कि वर्तमान वेदान्तसूत्र कभी मीमांसाशास्त्र का भागमात्र था। उस समय जब मीमांसा पर वृत्ति और भाष्य लिखे गए, तो इस वेदान्तसूत्र पर भी उन्हीं मुनियों वा आचार्यों ने भाष्य लिखे। इस प्रकार

१. मीमांसा के चार अध्याय वाले सङ्कर्ष काण्ड पर देवस्वामी का भाष्य मुद्रित हो रहा है। उसका पहला भाग हमारे पास है।

वेदान्त सूत्रों पर सबसे प्रथम वृत्ति बौधायन मुनि की थी। इस का संक्षेप उपवर्ष-भाष्य में हुआ। कुछ काल पश्चात् देवस्वामी का भाष्य रचा गया। वेदान्त पर टंक और द्रमिड़ के भी भाष्य थे। सम्पूर्ण दर्शनों में से इस दर्शन पर बहुत अधिक ग्रन्थ रचे गए। भास्कराचार्य, शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य के भाष्य भी इस ग्रन्थ पर हुए। उन का उल्लेख यथास्थान होगा।

१२६ वेदान्त सूत्रों में ब्रह्म अर्थात् ईश्वर का विषय प्रतिपादित है। इसमें उपनिषद्-वाक्यों की मीमांसा की गई है। उपनिषदों में आकाश का अर्थ भौतिक आकाश है, और ब्रह्म भी है। इस प्रकार अनेक शब्दों के अर्थों का इस दर्शन में विवेचन है। भाष्यकारों ने अपने-अपने काल के अनेक वादों की परीक्षा इसी विवेचन के अन्दर की है।

ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति, ब्रह्म से वेद का प्रकाश इस शास्त्र का विषय है।

आथर्वण पैप्पलाद संहिता के ब्रह्म सूक्त का निर्देश इन सूत्रों में विचित्र छटा लिए है।

ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति का उल्लेख भी यहीं है। शङ्कर के काल से इस सूत्र की व्याख्या अद्वैत-सिद्धान्त-परक हो गई थी। यह आगे लिखेंगे।

यदि यह दर्शन व्यासकृत माना जाए, तो व्यासरचित महाभारत के विरोधी-सिद्धान्त का प्रतिपादन इसमें नहीं हो सकता। महाभारत के मोक्षधर्म रूपी अवान्तर पर्व में सांख्य का प्राधान्य है। अतः वेदान्त भी उसी प्रक्रिया के अनुकूल होना चाहिए।

यह पक्ष ठीक है और इसमें विद्वान् सहमत हैं, अतः वेदान्त उस अद्वैतवाद का समर्थन नहीं कर सकता जिसका पक्ष शङ्कर ने उपस्थित किया है।

शङ्कराचार्य के पश्चात् वेदान्त का अध्ययन भारत में बहुत अधिक हुआ है।

एकादश अध्याय

महाभारत युद्ध काल

(विक्रम से ३०७५ वर्ष पूर्व)

१३०. अब द्वापर का अन्त अति समीप था। राज्यों के महत्त्व का काँटा शीघ्र-शीघ्र बदल रहा था। हस्तिनापुर का कौरव-वंश भीष्म के आश्रय पर था। यादव लोग कृष्ण के नेतृत्व में द्वारिका जा चुके थे। शूरसेनों में कंस का नामावशेष था। पांचालों पर अतिवृद्ध द्रुपद राज्य करता था।

१३१. कौरव राज्य में दुर्योधन और पाण्डवों का वैमनस्य बढ़ने लगा। भारत ने अपनी उत्कृष्ट संस्कृति का हीनतम काल देखना था। दुर्योधन इसका सूत्रधार बना। असुर मय ने इन्द्रप्रस्थ में युधिष्ठिर की अनुपमा-सभा बनाई। वास्तुकला का यह अभूतपूर्व नमूना था। वर्तमान वास्तु शास्त्री (ऐंजिनियर) भी इसका वर्णन पढ़ सकते हैं, वैसी सभा बना नहीं सकते। अज्ञानी पुरुष इसके वर्णन में सन्देह करते हैं। वे इतिहास से अनभिज्ञ हैं। इस सभा के प्रतिष्ठान-समय युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ के करने का विचार किया। मगधराज जरासन्ध के जीवित रहते यह यज्ञ असम्भव था। देवकी-पुत्र यादव कृष्ण ने कहा, जरासन्ध एक यज्ञ करने वाला है। उसमें वह अपने द्वारा पराजित और बन्दी बनाए गए राजाओं की बलि देगा। अतः उन राजाओं को मुक्त कराना आवश्यक है। एतदर्थ भीम, अर्जुन और कृष्ण गुप्त-रूप से ब्राह्मण वेश में मगध की राजधानी राजगृह में प्रविष्ट हुए। वहाँ कृष्ण की नीति से भीम द्वारा जरासन्ध का वध हुआ।

तब अर्जुन आदि पाण्डव कर-प्राप्त्यर्थ विजय-यात्रा पर निकले। अर्जुन उत्तर-पश्चिम दिशा में गया। अर्जुन का विजय रूस के ऊपर तक हुआ। मध्य ऐशिया के मैसोपोटेमिया आदि जनपद भी अर्जुन ने जीते। नकुल पश्चिम विजय करता हुआ डैन्यूब (=दानव) नदी तक पहुँचा।

एक असाधारण रस्म—राजसूय यज्ञ धूम-धाम से आरम्भ हुआ। यज्ञ के समय भारत के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष की पूजा आवश्यक थी। भीष्म की अनुमति से श्री कृष्ण की पूजा का निश्चय हुआ। शिशुपाल ने इसका विरोध किया। उसने यज्ञ में विघ्न डालने का यत्न किया।

उत्कृष्टतम मनुष्य का लक्षण—तब भीष्म उठा। वह बोला—गोविन्द कृष्ण की योग्यता में दो हेतु प्रबल हैं। कृष्ण का वेद-वेदाङ्गों का विज्ञान सबसे अधिक है। विद्वानों से भी और ऋषि मुनियों से भी। और कृष्ण बल में भी सब क्षत्रियों का शिरोमणि है।

पाठक ! ध्यान रखना चाहिए। भारत में महान वही माना जाता था, जो वेद और वेदाङ्ग-विज्ञान में अवश्य सर्वोपरि हो। तब तक संस्कृत विद्या का विस्तार था। संस्कृत भारत की भाषा थी। शूद्र भी इसे समझते खूब थे। धन यहाँ बहुत था। पर धन बड़प्पन का स्थान न था। बड़प्पन का स्थान था वेद-विज्ञान। तब अल्पमति योरोपीय लेखकों की लेखनी से वेद का प्रहरण नहीं हुआ था। उस काल में अति दीर्घ आयु मार्कण्डेय, परशुराम, पराशर आदि ऋषि जीवित थे। वे पुराने इतिहास के प्रत्यक्ष द्रष्टा थे। अस्तु।

कृष्ण ने शिशुपाल को द्वन्द्व युद्ध के लिए निमन्त्रित किया। इस युद्ध में शिशुपाल मारा गया। कृष्ण ने यज्ञ में निमन्त्रित अतिथियों के पाद-प्रक्षालन और सेवा का भार अपने ऊपर लिया। कितना महान् आदर्श था। भारत-हृदय सम्राट् का कैसा आर्द्र-हृदय था। यज्ञ सम्पन्न हुआ। दुर्योधन की स्पर्धा-अग्नि जल उठी। उसने द्यूत की छल-रूपी दुर्मन्त्रणा की। उस समय के क्षत्रियों में एक उलटा नियम बन गया था। द्वन्द्व युद्ध के निमन्त्रण के समान वे द्यूत के निमन्त्रण को भी अस्वीकार नहीं करते थे।

पतन की पराकाष्ठा

१३२. युधिष्ठिर द्यूत में अन्धा हो गया। उसने वेदाज्ञा का भंग किया। वेद में द्यूत की घोर निन्दा है। युधिष्ठिर हार रहा था। द्रौपदी पर अत्याचार हुआ। उसका दण्ड भारत ने बहुत भोगा है। दुर्योधन ने द्यूत खेल कर और द्रौपदी के साथ दुर्व्यवहार करके आर्य भूमि को अपवित्र किया। ऐसे देश-घातक आसुरि-वृत्ति का फल हैं।

१३३. पाण्डवों ने द्वादश वर्ष का वनवास भोगा। उन्होंने अन्तिम वर्ष विराट नगर में गुप्त रह कर व्यतीत किया। वर्ष की समाप्ति पर दुर्योधन ने दल-बल सहित विराट पर आक्रमण किया। विराट राजकुमार उत्तर के साथ अर्जुन गुप्त-वेश में ही युद्ध के लिये सहायक हुआ। समर-भूमि में अर्जुन के गाण्डीव की टंकार सर्वत्र गूंजी। पुनः भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य के पाँव में बाण गिरे। वीर अर्जुन ने अपने वृद्धों को इस प्रकार क्षात्र-मार्ग द्वारा नमस्कार किया। अगले क्षण में सर सर करते हुए तीर उन तीनों के कानों के

पास से गुजरे। तीनों सेनापति समझ गए, पाँव में नमस्कार के पश्चात् अर्जुन कुशल, क्षेम पूछ रहा है। विचित्र दृश्य था।

१३४. पाण्डवों का पता लग जाने पर विराट्-राज ने अपनी कन्या अर्जुन को देनी चाही। अर्जुन सच्चरित्र क्षत्रिय था। वह इस कन्या को पुत्री के समान पढ़ाता रहा था। उसने कहा। कन्या को अपने पुत्र के लिये लेता हूं। उस हीन-काल में भारतीय संस्कृति का यह उज्ज्वल चिह्न है।

१३५. जहाँ एक ओर पतन की पराकाष्ठा थी, वहाँ दूसरी ओर अभी ऋषि, मुनि जीवित थे। वे वैदिक-विद्याओं की रक्षा कर रहे थे। कृष्ण द्वैपायन व्यास ने पूरा बल लगाया कि भारत-युद्ध न हो। उन्होंने धृतराष्ट्र को कहा, वेद में वध अच्छा नहीं माना गया। युद्ध नहीं होना चाहिए। पर काल प्रबल हो रहा था। अनेक ऋषि, मुनि दुर्योधन को समझाते रहे। पर सब निष्फल था। कुरुक्षेत्र के स्थान में युद्ध ठन गया।

१३६. युद्ध से पूर्व की रात्रि—रात्रि का आरम्भ था। युद्ध-शिविर में दुर्योधन का राज-दरबार लग रहा था। दुर्योधन ने भीष्म की ओर सम्बोधन करके कहा! महासेनापते! कल से युद्ध आरम्भ होगा। आप यह सात अक्षौहिणी शत्रुसेना (=लगभग २० लाख) कितने दिन में समाप्त कर सकेंगे। महासेनापति बोला। राजन् मैं वृद्ध (लगभग १७० वर्षीय) हूं। सरल युद्ध करूंगा। दस सहस्र शत्रु मार कर रात्रि को भोजन किया करूंगा। पर यदि अस्त्र-युद्ध आरम्भ हो गया तो एक मास में शत्रु-सेना समाप्त कर सकता हूं। पर दूसरी ओर अर्जुन है और उसका रक्षक महाबल विष्वक्सेन कृष्ण है। वह उनकी रक्षा करेगा। नहीं कह सकता क्या होगा। इति।

यही प्रश्न द्रोण से किया गया। वह बोला, मैं अधिक वृद्ध (४०० वर्ष का) हूं। मेरा सामर्थ्य भी इतना ही है। कृपाचार्य आदि से भी यही प्रश्न हो रहा था।

दूसरी ओर—इतने में चरों ने युधिष्ठिर को समाचार पहुंचाया कि दुर्योधन के दरबार में सेनापतियों की शक्ति का संतुलन हो रहा है। युधिष्ठिर ने अर्जुन की ओर देखा। अर्जुन आसन से उठ कर खड़ा हुआ। युधिष्ठिर ने अर्जुन से वही प्रश्न किया गया। अर्जुन ने श्री कृष्ण की ओर दृष्टि डाली। दोनों के मुखमण्डल पर मुस्कान आई। अर्जुन उत्तर में बोला। राजन्, सरल युद्ध करूंगा। पर यदि अस्त्र-युद्ध आरम्भ हो गया, और समय आया तो मैं आंख के निमेष-मात्र में लगभग तीस लाख शत्रु-सेना समाप्त कर सकता हूँ। मेरे

पास पाशुपतास्त्र है। यह अस्त्र न पितातह के पास है, न द्रोण के। आचार्य कृप भी इसे नहीं जानते।

धनुर्वेद ज्ञान की यह चरम-सीमा थी।

व्यूह-रचन—भारत युद्ध में सेनाएँ प्रति प्रातः व्यूहों में सज जाती थीं। रात्रि को ही सब सेनापतियों को आज्ञाएँ मिल जाती थीं। किस ने कहाँ पर अयन में ठहरना है। नक्शे सब को मिल जाते थे। प्रातः महासेनापति घोड़े पर सवार प्रधान स्थान स्वयं देखता था। तत्पश्चात् वह अपने तम्बू में आ कर कवच आदि धारण करके सज्जित होता था, और रथ पर चढ़ कर सेना-मुख पर आ खड़ा होता था।

गीता-उपदेश

१३७. युद्ध के प्रथम दिन प्रातः काल ही एक विलक्षण घटना घटी। श्री कृष्ण और अर्जुन एक रथ पर थे। रथ सेनाओं के मध्य में खड़ा था। अर्जुन ने चारों ओर अपनी दृष्टि फेरी। उस के हृदय में कश्मल प्रविष्ट हुआ। वह उदासीन हुआ। युद्ध से उस की वृत्ति फिरी। क्षत्रिय-वीर मुनि-वृत्ति की ओर जाने लगा। क्षात्र कर्तव्य से पतित होने लगा। वर्णस्थ अपने धर्म को छोड़े, उस का श्रीगणेश होने वाला था। गो-ब्राह्मण के रक्षक, वेद ज्ञान निधि और वर्ण-धर्म की मर्यादा के संस्थापक भगवान् पास थे। उन के हृदय में करुणा आई। बस फिर क्या था। अलौकिक ज्ञान का उपदेश आरम्भ हुआ। भगवान् ने आत्म-ज्ञान का मधुर गीत गाया।

१३८. वेद में जो रहस्यमय उपदेश है, उसकी व्यवस्था उपनिषदों में है। उपनिषद् का सार गीता है। कहा है, उपनिषदें गौएँ हैं और कृष्ण उनका दोग्धा (दोहने वाला) है। गीता में सांख्य-योग ज्ञान का सामञ्जस्य बताया गया है। पच्चीस तत्त्वों के सांख्य-ज्ञान की व्यवस्था है। मोक्ष का सीधा उपाय है, ज्ञान का परम उपार्जन और कर्म के फल की वासना का सर्वथा त्याग। संग त्याग की महिमा और अकर्मण्यता की गीता में निन्दा है।

१३९. गीता का उपदेश श्रीकृष्ण ने दिया और श्लोकों में उपनिबद्ध किया इसे वेद व्यास ने। वेद व्यास एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। योरोपीय लेखकों ने उनके अस्तित्व में सन्देह उत्पन्न करने के अनेक उपाय बर्ते हैं। पर यह सब पक्षपात और मिथ्यात्व का परिणाम है।

गीता का पाठ करने वाला, विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु, कपिल, स्कन्द, भृगु, दैत्य प्रह्लाद, मुनि व्यास, कवि उशना और असित देवल आदि को ऐतिहासिक पुरुष मानता है। गीता ने जहाँ एक ओर ज्ञान की गंगा बहाई है, वहाँ प्रसंगतः

भारतीय इतिहास के अनेक अंशों की अनुपम रक्षा भी की है। योरोपीय लोग तो हमारे पुरातन इतिहास को नष्ट कर ही चुके थे। पर गीता ने ऐसा नहीं होने दिया।

१४०. गीता का भारत पर असाधारण प्रभाव पड़ा है। भागवत धर्म का समावेश गीता में है। भागवत धर्म नारद आदि से चला। श्रीकृष्ण और दीर्घजीवी नारद दोनों अभिन्न-हृदय सखा थे। दोनों के विचारों में ऐक्य स्वाभाविक था। अतः गीता में भक्ति-धर्म का उल्लेख है। मन के निग्रह का उपाय बता कर स्थिर-बुद्धि अथवा स्थिरप्रज्ञ होने का विधान है।

१४१. योग की विभूतियों का संकेत संख्या १२१ की सिद्धियाँ-शीर्षक प्रसंग में हो चुका है। उन्हीं सिद्धियों के आधार पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपना विराट्-स्वरूप दिखाया। यह स्वरूप दुर्योधन की राज-सभा में भी दिखाया गया था। उस समय भगवान् सन्धि के निमित्त दूत-कर्म के लिए वहाँ गए थे। विराट्स्वरूप का दर्शन भाग्योदय का फल है। अर्जुन कृतकृत्य हुआ।

गीता का सारा उपदेश २०-२५ मिनट में हो गया। सुनने वाला ग्राह्य-बुद्धि था। कहने वाला भी संसार में दूसरा न हुआ, न होगा। विचित्र छटा होगी। शिष्य-भाव से अर्जुन ने संसार-मात्र का कल्याण किया।

गीता का प्रभाव—गीता का प्रभाव भारत पर पड़ा ही, इसके अतिरिक्त यह प्रभाव संसार-मात्र में फैला। गीता का अनुवाद संसार की अनेक भाषाओं में हुआ। पिपासु हृदयों की प्यास बुझी। दुःखियों का दुःख हरा गया। उदास लोगों में जीवन की स्फूर्ति जगी। शतशः मनो का भय भाग गया।

जर्मन कुमारी की कथा—जोजेफ वर्बर नामक अन्तर्राष्ट्रिय धर्म-नियम (कानून) के एक महान् विशेषज्ञ हैं। हर हिटलर उनका परामर्श लिया करता था। वे कई वर्ष भारत में रहे। अपने प्रथम समागम में सन् १९५० के आस-पास मैंने उनसे पूछा, प्रिय महाशय ! आप भारतीय बातों की ओर कैसे झुके। उत्तर में वे बोले—

बर्लिन पर विमानों द्वारा बम गिर रहे थे। कारणवश मैं भूमिगत रक्षा-गृह के ऊपर खड़ा था। एक बम रक्षा-गृह के कोने पर पड़ा।

विमान लौट गए। साईरन बजे। रक्षा-गृह के अन्दर ठहरे व्यक्ति दूसरे स्थान पर जाने के लिए दौड़ रहे थे। उस बम गिरने के स्थान के पास ही एक युवती देर से खड़ी थी। वह दौड़ी नहीं। मैं आश्चर्य-चकित उसके पास पहुँचा। पूछा आप जाती नहीं हैं ? वह बोली, नहीं। क्यों ? लोगों की गति

देख रही हूं। क्या तुम्हारे मन में भय नहीं है? युवती बोली, अणुमात्र भी नहीं। मैंने अधिक आश्चर्य में कहा, क्यों? उसने शांतभाव से उत्तर दिया, महाशय, मैंने गीता पढ़ी है। मृत्यु और जीवन मेरे लिए एक समान हैं। मेरे रोंगटे खड़े थे। मैं सोच नहीं सका कि ग्रन्थ पढ़ने का इस पर कैसा प्रभाव हुआ। बस उसी क्षण से मेरे हृदय में आर्य संस्कृति के प्रति श्रद्धा जम गई। मैं गीता पढ़ता हूँ, इति।

जर्मन महोपाध्याय की बात सुन कर मेरे भी रोमाँच हो आया। मैंने मन ही मन श्रीकृष्ण को नमस्कार किया। धन्य हो, महाराज! पाँच सहस्र वर्ष हो गये, आप का उपदेश सैंकड़ों भक्तों का उद्धार कर रहा है।

गीता में वेदाँत है, पर शांकर-वेदांत नहीं। प्राचीन साँख्य-सदृश वेदांत से गीता ओत-प्रोत और अलंकृत है।

महाभारत ग्रन्थ

१४२. महाभारत शतसाहस्री संहिता है। इस में मूल भाग पारम्पर्य विशेषज्ञ भगवान् व्यास का है। शेष भाग वैशम्पायन और उग्रश्रवा सौति का है। ये दोनों उनके साक्षात् शिष्य-सम्प्रदाय में थे। महाभारत में थोड़ा प्रक्षेप भी है पर गत पाँच सहस्र वर्ष में भारत ने इस महान ग्रन्थ की बड़ी रक्षा की है। इसमें अठारह पर्व हैं। व्यास कहते हैं कि प्राचीन ज्ञान में से जो यहाँ नहीं वह कहीं भी नहीं। महाभारत प्राचीन इतिहास का अद्वितीय भण्डार है। सृष्टि-उत्पत्ति से लेकर जनमेजय के काल तक की घटनाएँ इसमें सुरक्षित हैं। इसमें आर्य-जीवन का मुँह-बोलता चित्र है। संस्कृति की छाया सर्वत्र अनु-प्राणित है।

यह इतिहास है, और संसार का श्रेष्ठतम इतिहास है। व्यास स्वयं कहता है—यह श्रेष्ठ अर्थशास्त्र है, परम धर्मशास्त्र है, यह पुण्य मोक्ष-शास्त्र है, और श्रुति के अर्थों से उपबृंहित है। योरोप के लोगों ने इस की प्रामाणिकता नष्ट करने के लिए लाखों रुपए व्यय किए हैं। पर भारत की पुण्य भूमि के विद्वानों ने उनकी सुनी नहीं। कतिपय अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों तक ही यह विचार सीमित रहा है।

महाभारत के एक ही श्लोक में धर्म का सार अति सुन्दर शब्दों में वर्णित है—

धर्म का सर्वस्व सुनो। सुन के उसे धारण करो। आत्मा के प्रतिकूल दूसरों से व्यवहार न करो। जो बात तुम अपने लिए ठीक नहीं समझते, उसे दूसरों के साथ न करो। इति।

महाभारत की कथा, पाठशालाओं, मन्दिरों, और राजकीय स्थानों में सहस्रों वर्षों से होती आई है। आज भी इस की कथा को सुनने के लिए सहस्रों नर-नारी एकत्र हो जाते हैं। भारतीय-संस्कृति की इस ग्रन्थ के द्वारा सदा रक्षा होती रही है।

भारत के शतशः उत्तरवर्ती कवि महाभारत के अनुजीवी हैं। भास, कालिदास, भारवि ने अपने ग्रंथों की सामग्री महाभारत से ही ली है।

१४३. **वासुदेव कृष्ण**—महाभारत में कृष्ण का उज्ज्वल चरित्र बहुत सुन्दरता से वर्णित है। लिखा है, श्री कृष्ण कर्म-बन्धन से नहीं जन्मे। उन्होंने अपनी इच्छा से जन्म लिया। वे मुक्त थे। ऐसे ही एक दूसरे महात्मा पञ्चशिख का उल्लेख भी महाभारत में है।[१] ये लोग जन्म से सब विद्या-वित् होते हैं।

कृष्ण की नीति का महाभारत में विशेष स्थान है। उन्हें राजनीति का अपार पण्डित कहा गया है। उन्हीं की नीति के बल से जरासन्ध मरा, कौरव परास्त हुए, अनेक असुर मारे गए। अधर्मी को मारने के लिए वे छल का उपदेश देते दिखाए गए हैं। वे गो-ब्राह्मण रक्षक, यज्ञ-रक्षक और वेद-रक्षक थे। उन्हों ने स्वयं कहा है, मैं यज्ञ-ध्वंसक को मारूंगा। जब उनका काम हो चुका तो उन्होंने अपनी इच्छा से प्राण त्याग दिए। उन्हें संसार से मोह नहीं था।

१४४. **व्यास**—कृष्ण द्वैपायन व्यास दूसरा महापुरुष है, जिसका विस्तृत उल्लेख महाभारत में है। वह भी स्वयं आगत-ज्ञान था। पर आर्य-मर्यादा की रक्षा के लिए उस ने चचा जतुकर्ण से विद्या पढ़ी। भारतीय मर्यादा है कि विद्या गुरु से ली जाए। श्री कृष्ण ने भी सांदीपनि गुरु से १८ दिन विद्या पढ़ी थी। पञ्चशिख ने भी आसुरि से ज्ञान ग्रहण किया था। ये सब लोग जन्म से ही सिद्ध-विद्वान और ज्ञानी थे।

व्यास ने वेद-शाखा प्रवचन किया। उन्होंने धर्म-शास्त्र आदि लिखे। महाभारत-सदृश अनुपम इतिहास लिखा। पुराण की मूल संहिता व्यास ने रची। वे विद्याओं के भण्डार और योगेश्वर थे। उनकी योगज शक्ति के अनेक दृष्टान्त महाभारत ग्रंथ में पाए जाते हैं। उन का पुत्र शुक वीतराग-शिरोमणि हो गया। उसने संसार से उपरत होकर पिता के सामने स्वेच्छा से यह नश्वर-शरीर छोड़ दिया।

१४५. **द्रोण और उनका अर्थशास्त्र**—भारत-युद्ध-काल के तीसरे महा-

---

१. इन पञ्चशिख भिक्षु का वर्णन पूर्व-संख्या १११ के अन्तर्गत हो चुका है।

पुरुष भरद्वाज-पुत्र आचार्य द्रोण थे। इन्होंने आयुर्वेद के संहिताकार अग्निवेश मुनि से धनुर्वेद आदि की विद्या प्राप्त की थी। ये वेद के पण्डित और अर्थ-शास्त्र के आचार्य थे। इनका अर्थशास्त्र भारद्वाज अर्थशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध था। विष्णुगुप्त -कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में इनका मत प्रायः उद्धृत करता है। अपने समय के लगभग सब क्षत्र के ये गुरु थे। धनुर्वेद के मानो अवतार थे। गुड़गाँव अथवा प्राचीन गुरुग्राम इनका निवास-स्थान था।

महाभारत में एक आश्रम का दृश्य—आश्रम में अनेक विभाग होते थे। महाभारत में उनके नाम लिखे हैं—

(१) अग्निस्थान, अग्निहोत्र का स्थान। (२) ब्रह्मस्थान, वेद पाठ और ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्यापन का स्थान। (३) विष्णु स्थान (४) महेन्द्र स्थान। (५) वैवस्वत स्थान। इत्यादि। इनमें विभिन्न विद्याएँ पढ़ाई जाती थीं।

१४६. भारत-युद्ध में आर्य-संस्कृति का नाश-विशेष हुआ। भीष्म, द्रोण, भूरिश्रवा, द्रुपद, धृष्टद्युम्न सदृश विद्वान् नष्ट हुए। भारतीय क्षत्रियकुलों में विधवाएँ रह गईं। शोक की घटा सारे भारत पर छा गई। राज-सिंहासनों पर बालक बैठे। पुराना वैभव लौटा नहीं, दिन-दिन क्षीण होता गया। दुर्यो-धन के पाप का फल उग्र-रूप धारण किए था।

महाभारत काल तक शक, काम्भोज, पारद (Parthians), शबर, पह्लव, तुषार, यवन, दरद, मद्र, पुलिन्द, आन्ध्र, द्रमिड (द्राविड), बर्बर, किरात, कोल, खष आदि क्षत्रिय जातियाँ म्लेच्छ हो चुकी थीं। इन में से अनेक भारतीय सीमाओं से परे और कुछ भारत में थीं।

मोहेञ्जोदरो—पूर्व प्रसंग संख्या ४७ में हड़प्पा और मोहेञ्जोदरो के विषय में लिखा जा चुका है। यहाँ के योद्धा भारत-युद्ध में लड़े थे। इन का सम्बन्ध दानवासुर विप्रचित्ति के काल से असुरों से चला आ रहा था। इन की आसुरि-लिपि का उल्लेख ललित विस्तर नामक पुराने ग्रन्थ में मिलता है। आज भी हड़प्पा आदि से मिली मुद्राओं पर की लिपि का सादृश्य सुमेर की लिपि से दिखाया जा सकता है।

द्वादश अध्याय

आर्ष-काल की समाप्ति

१४७. गत पृष्ठों से स्पष्ट हो चुका है कि भारतीय संस्कृति का आधार आर्ष-उपदेश रहा है। वे ऋषि अब न्यून हो रहे थे। उन के अन्तिम दर्शन हमें भारत-युद्ध के लगभग २०० वर्ष पश्चात् नैमिषारण्य में होते हैं। यह महान् अरण्य सहस्रों वर्ष तक आर्ष-संस्कृति का केन्द्र स्थान रहा है। वर्तमान लखनऊ के पास यह अरण्य होता था। इस में सहस्रों ऋषि-मुनियों की कुटियाएँ थीं। जिस काल का उल्लेख हम कर रहे हैं, उस काल में यहाँ कुलपति शौनक का निवास था। कुलपति उस महापुरुष को कहते हैं, जो दश-सहस्र छात्रों को भोजन-वस्त्र देकर उन के अध्ययन का प्रवन्ध कर सके। स्वनामधन्य शौनक ऐसे ही महापुरुष थे।

१४८. वे एक दीर्घ-सत्र कर रहे थे। उनके यज्ञ को बड़े-बड़े ऋषि और विद्वान् अपने आगमन से सुशोभित करते थे। ऋषि लोग शास्त्र-वार्ता भी करते थे। अनेक नए रचित शास्त्र ऐसे अवसरों पर सुनाए जाते थे। ऋषि उन पर सम्मति देते थे। आजकल के समान प्रत्येक पुरुष को कागज काला करने का अधिकार नहीं था। भगवान् शौनक ने ऐसे ही एक अवसर पर अपना ऋक् प्रातिशाख्य सुनाया था। शौनक ऋग्वेद की दश अनुक्रमणियाँ बनाने वाला था। उसने आथर्वण आदि शाखाओं का प्रवचन भी किया था।

१४९. शिष्य—शौनक के दो तेजस्वी शिष्य थे। वे थे, आश्वलायन और कात्यायन। इन और अन्य अनेक शिष्यों से घिरे शौनक जी विद्या-अध्ययनाध्यापन में रत रहते थे। यज्ञ के समय यज्ञ होता था।

पुराण-प्रवचन

१५०. अनेक ब्रह्मवादी समय-समय पर पुराण का प्रवचन कर चुके थे। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार अथर्वाङ्गिरस ऋषियों ने इतिहास पुराण कहे थे। उन्हीं की परम्परा में व्यास जी ने एक पुराण-संहिता बनाई। उस में आख्यान, उपाख्यान और पुरातन गाथाएँ थीं। यह संहिता उन्होंने अपने शिष्य रोमहर्षण को पढ़ाई। रोमहर्षण के छः शिष्य थे। आत्रेय, सुमति और कश्यप अकृतव्रण आदि। रोमहर्षण का पुत्र उग्रश्रवा था। रोमहर्षण ने एक मूल पुराण-संहिता के छः पाठ किए और एक-एक पाठ अपने एक-एक शिष्य को

पढ़ाया। उग्रश्रवा सब पाठ जानता था। इस प्रकार एक पुराण की छः संहिताएँ बनीं। इनमें से अधिकांश संहिताएँ चतुःसाहस्री थीं।

स्मरण रहे कि अति प्राचीन पुराणस्थ गाथाएँ ही वर्तमान ब्राह्मण ग्रन्थों में—गाथा में गाया है, ऐसा लिख कर उद्धृत की गई हैं। भारत में वंश-विदों और काल-विदों के सम्प्रदाय थे। कौन कब हुआ, यह ज्ञान कालविद् सुरक्षित रखते थे।

१५१. उग्रश्रवा और शौनक—उग्रश्रवा ने उन संहिताओं का प्रवचन शौनक के दीर्घ-सत्र में किया। उग्रश्रवा को सौति कहते हैं। उग्रश्रवा के सुनाए पुराणों में वायु और मत्स्यादि हैं। वर्तमान पुराण और उपपुराण उत्तर-काल में बने हैं। इन पर शैव-शाक्त आदि सम्प्रदायों का रंग चढ़ा हुआ है।

१५२. सम्भव है, अति प्राचीन पुराणों की सामग्री भी इन पुराणों में हो, पर शाक्त आदि सम्प्रदायों का उल्लेख नया है। पुराणों में उल्लिखित राज-वंशों का प्रमाण बड़े महत्त्व का है। इस प्रमाण के आधार पर ही भारत के सत्य इतिहास का निर्माण हो सकता है। पुराणान्तर्गत वंशों के अनेक राजा ब्राह्मण ग्रन्थों में स्मृत हैं। योरोप के लेखकों का कहना है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों से राजाओं के नाम लेकर पुराणों में पीछे से वंश कल्पित किए गए हैं। यह एक निराधार गप्प और असत्य मनोविनोद है। विद्वान् इसकी अवहेलना करते हैं। वर्तमान खोज ने सिद्ध किया है कि बुद्ध से लेकर गुप्त राजाओं तक का वर्णन पुराणों में बहुत ठीक मिलता है।

१५३. पुराणों में विज्ञान की अनेक असाधारण बातें हैं। पुराण में लिखा है–समुद्र से,वायु के संयोग से सूर्य-किरणें आपः को वहा ले जाती हैं। इति। पुराणों में ज्योतिष के अनेक चमत्कारपूर्ण रहस्य लिखे गए हैं। प्रलय की कथा का वर्णन पुराण में मिलता है।

१५४. शौनक का दीर्घ-सत्र आर्षकाल के अन्त में हुआ। उसके पश्चात् भारतीय इतिहास में भूत-भव्य और भविष्य के जानने वाले ऋषियों का अभाव ही हो गया। यास्क के निरुक्त के अन्त में भी लिखा है कि ऋषियों का अभाव होने लग पड़ा था। तप की न्यूनता, जीवन की स्वच्छता और सत्य के विच्छेद से आर्ष-परम्परा ह्रास की ओर जा रही थी। इसीलिए दीर्घ-जीवी होना समाप्त हो रहा था। अब लोगों का अधिकाधिक आयु १००-१५० वर्ष तक रह गया था। उत्तर-काल में वह भी घटने लगा।

आचार-मर्यादा

१५५. आर्य जाति सहस्रों वर्ष तक जीवित रही और अब भी प्राण ले रही है। सैंकड़ों वर्षों की दासता इसे नष्ट करने में असमर्थ रही, बीसियों बर्बर और दस्यु-आक्रमण इसे धरातल पर पहुँचाने में असफल हुए, निर्दयता की वर्षा भी इसे मिटा नहीं सकी, इसका कारण है। भूपृष्ठ पर यही एक जाति है जिसने आचार-मर्यादा का कभी पूरा पालन किया और आज भी थोड़ा-सा कर रही है। अतः दैवी गति उस आचार-नियम की रक्षा के लिए ही इसे जीवित रख रही है।

१५६. इस आचार, शील अथवा विनय की अपनी महत्ता है। आर्य संस्कृति का इतिहास अधूरा है, जब तक इस आचार-पक्ष का वर्णन नहीं होता, अतः तीन युगों तक आचार का जो प्राधान्य भारत में रहा, उसका संक्षिप्त वर्णन आगे किया जाता है।

१५७. सम्पूर्ण भारतीय प्रजा प्रातरुत्थायी थी। ब्राह्ममुहूर्त में उठना जीवन का एक अंग था। सूर्य उदय होने पर जागना पाप माना जाता था। जब प्रकृति जाग रही हो, तब मनुष्य सोया रहे, यह उलटी गंगा बहाना था। अतः इस नियम का उल्लंघन कोई हत-भाग्य पुरुष ही करता था। म्लेच्छ देशों में यह मर्यादा टूट चुकी है।

प्रातः उठ कर मल-त्याग, दन्तधावन और स्नान नित्याचार था। पैर से पैर रगड़ कर पैर का स्वच्छ करना वर्जित था। इसे आयु का न्यून करने वाला कर्म समझा जाता था। खड़े होकर पशु-वत् मूत्र-त्याग वर्बर-कर्म माना जाता था। वर्षा के चार मास पर्वतों से गदला जल आने के कारण नदीस्नान सर्वथा वर्जित था।

१५८. सम्पूर्ण लोग प्रायः पूर्व-दिशा की ओर सिर करके सोते थे। पश्चिम और उत्तर की ओर सिर करके सोना निन्दित था। इससे स्वास्थ्य की हानि समझी जाती थी। इसका मूल भूमि के अन्दर की किसी भौतिक प्रक्रिया से सम्बद्ध है। सुश्रुत मुनि ने विशेष लिखा है कि शल्य-क्रिया के समय शल्य-चिकित्सक रोगी का सिर पूर्व की ओर रखे।

१५९. दिन के वसन रात्रि को धारण नहीं किए जाते थे। वास (पहनने के कपड़े) सदा स्वच्छ और शुद्ध रखे जाते थे। घर में भी एक का पहना हुआ वसन कोई दूसरा नहीं पहनता था।

१६०. सन्ध्या, अग्निहोत्र, स्वाध्याय, जप, पूजा, पाठ, मन्दिर-गमन सकल

भारत में प्रचलित रहा है। भारत में पूजा आदि कर्म-हीन लोगों की संख्या अति थोड़ी रही है।

१६१. सत्यता इस देश का भूषण रहा है, विशेषतया ब्राह्मणों की सत्य-प्रियता। ह्यूनत्साँग आदि चीनी यात्री और दूसरे विदेशी इस बात की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करते रहे हैं। न्यायालय अर्थात् धर्म-स्थान में जाकर कोई विरला मन्दभाग्य ही असत्य-भाषण करता था।

१६२. विद्यार्थी गुरु-भक्त और गुरु-सेवक, भृत्य स्वामी-भक्त और सेवा-वृत्ति युक्त, पत्नी मधुर-भाषिणी और पतिपरायणा तथा राजा प्रजारंजक रहे हैं। ये इनके आचार के अंग थे।

१६३. भारतीय-जन पगड़ी और जूता पहने कभी भोजन नहीं करते थे। वे सदा आर्द्र-पाद खाते थे। हाथ मुँह धोकर कुल्ला करके आसन पर बैठ कर खाने की प्रथा थी। आसन्दी (कुर्सी) पर बैठकर कोई नहीं खाता था। पहले स्वल्प आचमन, मध्य में थोड़ा-थोड़ा जलपान किया जाता था। भोजन समाप्त करके हाथ-मुँह धो कर, दांत पूरे स्वस्छ कर लिए जाते थे।

१६४. भोजन प्रातः-सायं दो काल ही होता था। तीसरे काल में कोई दूध आदि पी लेता था। दो-काल का भोजन सौ वर्ष आयु के देने वाला माना जाता था। पहले सब निरामिष भोजी थे। जब से मांस खाना चला, तब भी वृथा मांस नहीं खाया जाता था। उत्तर-काल में सम्राट् अशोक को भी सप्ताह में दो दिन मांस-भक्षण त्यागना पड़ा था। ऋतु-ऋतु के अनुसार भोजन बदलता रहता था। भोजन में षड् रस रहते थे।

भोजन के आरम्भ में मीठे रस का भोजन रहता था। मध्य में लवण और अमल का और अन्त में कटु रसयुक्त भोजन होता था। आरम्भ में द्रव, मध्य में कठिन और अन्त में पुनः द्रव होता था।

१६५. मार्ग में चलते हुए रोगी, दुःखी, वृद्ध, स्त्री, भारवाहक और विद्वान् के लिए सदा मार्ग छोड़ दिया जाता था।

बड़ों के आने पर छोटे उठ कर खड़े हो जाते थे। पहले सदा छोटा अभिवादन वा नमस्कार करता था, पुनः प्रत्युत्तर में बड़ा बोलता था।

१६६. गौ, ब्राह्मण, अनल और अन्न को उच्छिष्ट पुरुष नहीं छूता था, और कोई पवित्र-मुख आदि भी इनको पाँव से नहीं छूता था। भारतवर्ष के सम्पूर्ण पुरातन ग्रन्थ गो-ब्राह्मण के आदर को आचार का अङ्ग समझते हैं। गौ की अति पवित्रता का कारण है। द्यु-लोक से भूमि पर आए सोम का गौ

में बहुत अंश विद्यमान रहता है। यह सोम जीवन-वर्धक और जीवन का आधार है। प्रातःकाल उठने के पश्चात् जो आठ पूजार्ह माने गए हैं, उनमें गौ भी एक है।

ओषधि और वनस्पति का आधार भी सोम है। अतः गौ का गोबर खाद का उत्कृष्टतम पदार्थ है। उस से बढ़े हुए खेतों का अन्न अनेक गुणों को अपने में धारण करने वाला होता है।

१६७. पर-निन्दा से प्रायः सब ही परे रहते थे। पर-निन्दक घृणा-दृष्टि से देखा जाता था। पर सैद्धान्तिक भेद-भाव पर सप्रेम विचार-विनिमय सदा होता था। ऋषियों की अनेक सभाएँ हुईं, जिनमें सिद्धान्तों के निर्णय पर वाद-विवाद हुए। समाज में कठोर-वाक् का प्रयोग न था। अनुद्वेगकर-वाक्य सर्वत्र श्लाघा का स्थान था।

अश्लील गाली पुरातन भारत में नहीं थी।

त्रयोदश अध्याय

१६८. वैज्ञानिक आविष्कार

१. व्योमयान=विमान—विमान दो प्रकार के थे, विमान और महद् विमान[1]। लंकाधिपति रावण के पास जो पुष्पक नामक महद् विमान था, वह विश्वकर्मा द्वारा रचा गया था। उसमें वे विशेष-महाभूत प्रयुक्त थे, जो देवों के पास भी न थे। वह विमान वायुपथ में प्रतिष्ठित होकर आदित्य मार्ग का तारा दिखाई देता हुआ गति करता था, वह मारुत तुल्य शीघ्रगामी था। वह लगभग १० घण्टों में लंका से अयोध्या पहुँच सकता था।[2] उसको ले जाने वाले सहस्रों भूत गण थे। इन भूतों अर्थात् वायु, अग्निः और आपः आदि को उसमें बांध लिया गया था।

आदि सृष्टि का काल—महाशिल्पी विश्वकर्मा ने इस दिव्य विमान का आदिदेव ब्रह्मा के लिए निर्माण किया था। पितामह ब्रह्मा ने इसे कुबेर को दे दिया। और कुबेर से रावण इसे बलपूर्वक ले आया। अतः यह आविष्कार प्राचीनतम काल में हो चुका था। निस्सन्देह आदि मानव असभ्य नहीं था।

सोपान, वातायन—इस विमान पर चढ़ने के लिए सुवर्ण की सुन्दर सीढ़ियां थीं। इसके ऊपर के भाग में जालियों के वातायन थे। मणियों और स्फटिकों से यह उत्पतन-उडान करने वाला विमान विभूषित था।

वह विमान किस प्रकार ऊपर उठता था, इसका वर्णन नहीं मिलता। इसी प्रकार विमान के नीचे उतरने के कर्म का प्रकार भी अविदित है। पर ये कर्म आश्चर्यकर होंगे।

वाल्मीकि की अमर रचना के साक्ष्य के सामने विमानों के केवल आधुनिक काल में ही आविष्कार का विश्वास केवल मूर्खों को सन्तोष दे सकता है।

२. अस्त्र—भारतीय ऋषियों का एक महान् आविष्कार अस्त्रों के रूप में था। ये अस्त्र साधारण और दिव्य[3] दो प्रकार के थे। रामायण में परमास्त्रों का भी उल्लेख है।[4]

---

१. वा० रामायण, सुन्दर काण्ड ८।१॥
२. युद्ध काण्ड, १२४।६॥
३. रामायण, बालकाण्ड २६।१॥
४. युद्धकाण्ड ४५।५॥६५।२६॥

अस्त्र-शर-संयोग—दिव्यास्त्रों की सामग्री ऋषियों और क्षत्रिय-विशेषों के पास ही रही है। अनधिकारी अस्त्र-ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते थे। मूल सामग्री को शर के साथ जोड़ा जाता था। रामायण युद्ध काण्ड[1] में लिखा है कि ब्रह्मास्त्र से संयुक्त शर छोड़ा गया। प्रत्येक अस्त्र की सामग्री पृथक् थी, ऐसा ज्ञात होता है। अस्त्र-संयोग केवल शर से संभव है। बन्दूक वा तोप की गोली वा गोले से वह संयोग असंभव है। बन्दूक आदि की नाली से निकलते समय वह अस्त्र-सामग्री भयानक परिणाम उत्पन्न करती। अतः प्राचीन युद्ध-विद्या-विशारद लोग धनुष-बाण का ही प्रयोग करते थे।

अस्त्र-ज्ञान गोपनीय—अस्त्र ज्ञान सर्वसाधारण को नहीं था। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, विश्वामित्र, अगस्त्य, राम, लक्ष्मण, मय, रावण, इन्द्रजित, परशुराम, सगर, भरद्वाज, अग्निवेश, द्रोण, भीष्म, कर्ण, अर्जुन, सात्यकि और श्री कृष्ण इत्यादि कतिपय महाधनुर्धारी ही दिव्यास्त्रों का प्रयोग जानते थे। प्रत्येक अस्त्र के चलाने में नियत बल का प्रयोग होता था।

जिस प्रकार वर्तमान में ऐटम (अणु) गोले के बनाने पर लाखों रुपए व्यय होते हैं, उस प्रकार उन अस्त्रों पर इतना व्यय नहीं होता था। अस्त्र पर स्वल्प व्यय होता था।

अस्त्र प्रतीकार—प्रत्येक अस्त्र का प्रतिकार भी तब विदित था। आग्नेयास्त्र को वारुणास्त्र शान्त करता था। इस आग्नेयास्त्र का सौरास्त्र से भी प्रत्यवारण होता था।[2] आज भी अनुसन्धान के तप से ऐटम बम्ब आदि का प्रतीकार ढूँढा जा सकता है।

त्र्यम्बक शिव महाधनुर्धारी—राम कहता है, गान्धर्व नामक इस परमास्त्र को, जो दिव्य बल वाला है, त्र्यम्बक जानता था, अथवा मैं जानता हूँ। इस एक अस्त्र से अकेले राम ने दिन के आठवें भाग में ढाई लाख से कुछ ऊपर सैनिक धराशायी कर दिए।

अर्जुन ने भी शिव से पाशुपतास्त्र प्राप्त किया था। उसके चक्र से अर्जुन ने कुछ घण्टों में कई लाख योद्धा नष्ट कर दिए थे।

प्रादुर्भाव—ये अस्त्र पृथिवी मण्डल के वायु के आवरण में स्थित महाभूतों को उथल-पुथल करके अपना प्रादुर्भाव[3] दिखाते थे। इन अस्त्रों के द्वारा वैद्युत्-शक्ति भी जागृत की जाती थी।

---

१. ६१।७०॥

२. युद्धकाण्ड, ६१।५६॥

३. आसुरं सुमहाघोरमस्त्रं प्रादुश्चकार ह। युद्ध काण्ड १००।४१॥

अशनि-प्रभाव-युक्त शक्ति—विश्वामित्र ने श्री राम को शुष्क और आर्द्र दो अशनि दिए थे। रावण के पास भी यह अशनि शक्ति थी। उसने विभीषण पर एक शक्ति फेंकी। वह महाशक्ति से दीप्ता और दीप्ताशनि[1] का रूप लिए थी।

राम-रावण के युद्ध में ब्रह्मा द्वारा निर्मित, और अगस्त्य मुनि का दिया हुआ जो शर राम ने प्रयुक्त किया, उसके वाजों में पवन और फलों में पावक=अन्तरिक्ष का वैद्युताग्निः तथा भास्कर की किरणों का प्रभाव संगृहीत था।[2] वह सारे भूतों=आकाश, वायु, अग्निः, आपः और पार्थिव तेजों से युक्त भी था। इस शर में आणविक अंश अवश्य थे, अतः यह अमोघ अस्त्र था। उसका सन्धान वेद-प्रोक्त विधि से हुआ। रावण का वध कर के वह अपनी तूणी में पुनः आ गया[3]। उसमें अयस्कान्त का विशेष प्रकार का चुम्बकीय अथवा आकर्षक प्रभाव था।

सुदर्शन चक्र—श्री कृष्ण का सुदर्शन चक्र भी घेरा काट कर पुनः उनके पास आ जाता था। उसमें अयस्कान्त का भ्रामक प्रभाव होने का अनुमान है।

पूर्व लिखित १ और २ विवरणों से पाठक समझ सकते हैं कि प्राचीन आर्य विज्ञानशास्त्र के महापण्डित थे।

३. यन्त्र सूत्र—यन्त्र अर्थात् मशीनों का भी प्राचीन भारत में भूरि प्रचार था। यन्त्र और महायन्त्र दोनों प्रसिद्ध थे। पर महायन्त्र-प्रवर्तन का मानव धर्मशास्त्र में कुछ निषेध ही है। यन्त्रों पर अनेक सूत्र ग्रन्थ भी विद्यमान थे।

भरद्वाज मुनि का यन्त्र सर्वस्व इस विद्या का प्रामाणिक ग्रन्थ था। इस समय भोजराजकृत समराङ्गण सूत्रधार नामक एक ग्रन्थ उपलब्ध है। उसमें अनेक यन्त्रों का उल्लेख पाया जाता है। भारतीय विद्वानों की उपेक्षा से यह विद्या अभी मृतप्राय है।

उत्तर काल में वत्सराज उदयन को पकड़ने के लिए जो कृत्रिम हस्तिनी बनाई गई थी, वह यन्त्र बल से ही चलती थी।

४. दिव्य मणियाँ—सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त, अयस्कान्त आदि दिव्य मणियाँ भी कभी ज्ञात थीं। इस समय चन्द्रकान्त मणि सर्वथा अज्ञात हो चुकी है।

---

१. युद्ध काण्ड १०१।११९॥

२. युद्ध काण्ड १११।६, ७॥

३. युद्ध काण्ड १११।२०॥

५. अमृत, सुधा और दीर्घायु के शास्त्र—ये सब विद्याएँ सर्वथा लुप्त हो चुकी हैं। हाँ, रसायन विद्या थोड़ी-थोड़ी अवशिष्ट है।

६. भूत शास्त्र—छान्दोग्य उपनिषद् में भूतविद्या का उल्लेख है। इसके द्वारा वायव्य, आग्नेय, आप्य और पार्थिव परमाणुओं का पूर्ण ज्ञान कराया जाता था। आधुनिक युग में ऐटम (=अणु) शक्ति का उपयोग यूरेनियम धातु द्वारा किया जाता है। यदि भूतशास्त्र उपलब्ध हो जाता तो सम्पूर्ण धातु जो आग्नेय अणुओं का मुञ्चन करते हैं, ज्ञात हो जाते।

७. विश्वकर्मा और मय—देवों और आर्य जनों में विश्वकर्मा के अद्भुत आविष्कार प्रचलित थे, तथाच दैत्य देशों में मय के आविष्कार प्रसिद्ध थे।

८. संगीत विद्या—संगीत का आदि स्रोत है सामवेद। उस से नारद, तुम्बुरु, भरत आदि मुनियों ने संगीत विद्या का विस्तार किया। वाल्मीकि मुनि ने उसी भरत आदि निर्दिष्ट मार्ग से रामायण को गीति-काव्य भी बना दिया। रामायण, उत्तर काण्ड, सर्ग ९४ में संगीत की अनेक परिभाषाएँ भरत आदि के आधार पर ही हैं। यथा—पाठ्य जाति, तन्त्रीलय, स्वर-लक्षणज्ञ, कलामात्राविभागज्ञ, माललय, अतिमानुष गान्धर्व, तन्त्रीलय व्यञ्जन योग, इत्यादि।

इन सब आविष्कारों से पुराना संसार इह लोक के सुखों और ऐश्वर्यों को भोगता था।

चतुर्दश अध्याय

जैन मत—तीर्थंकर पार्श्वनाथ

१६९. आर्य राज्य की स्वच्छता दिन-दिन न्यून होती गई। शिक्षा का स्तर बहुत गिर गया। ऋषि-परम्परा विच्छिन्न हो गई। आचार में त्रुटि होने लगी। दुर्योधन ने स्वार्थ-परता का जो बीज बोया था, वह उग कर वृद्धि को प्राप्त हो रहा था। ऐसे काल में श्री पार्श्वनाथ जी का प्रादुर्भाव हुआ।

१७०. भारत में जैन धर्म कोई नया मार्ग नहीं है। हम पूर्व संख्या ७० में लिख आए हैं कि भगवान् सनत्कुमार का जैन-परम्परा में बड़ा आदर है। इसी प्रकार अति प्राचीन काल में अन्य अनेक मुनि भी हो चुके थे, जो अहिंसा के उच्चतम पक्ष को सदा उपस्थित करते रहे। ऐसे २३वें तीर्थङ्कर भगवान् पार्श्वनाथ थे। वे वाराणसी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे। तीस वर्ष गृहस्थ रहने के पश्चात् वे भिक्षु हुए। जैन-परम्परा के अनुसार ८४ दिन के तप के पश्चात् उन्हें ज्ञान हो गया। पूर्ण सौ वर्ष आयु भोग कर वंगदेशस्थ सम्मेत पर्वत पर उन्होंने देह त्यागा। उग्र तप करके इन्होंने उत्कृष्ट पद पाया। इनका प्रभाव दूर-दूर तक था।

उनके उपदेश में चार बातें प्रधान थीं, अहिंसा, सत्य, अस्तेय और सम्पत्ति-त्याग।

तथागत बुद्ध और महावीर स्वामी

(भारत-युद्ध से लगभग १३०० वर्ष पश्चात्)[1]

१७१. कपिलवस्तु पर राज्य करने वाले शाक्यों में एक महाराज शुद्धोदन थे। उनकी पत्नी का नाम माया था। उनके राजकुमार का नाम सिद्धार्थ था। राजकीय शिक्षा-दीक्षा के अनुसार पल कर सिद्धार्थ का विवाह यशोधरा से हुआ। उनका पुत्र राहुल हुआ।

१७२. सिद्धार्थ आरम्भ से ही वीत-राग था। जन्म-जन्मान्तर के संस्कार उसे ऊँचे मार्ग की ओर ले जा रहे थे। अन्ततः सांसारिक नश्वरता देख कर सिद्धार्थ को तीव्र वैराग्य हो गया। राजकीय-विलास, स्त्री-मोह, पुत्र-प्रेम, उस के लिए आकर्षण का स्थान नहीं रहे। वह प्रकृति का रहस्य समझने लगा था।

---

१. योरोपीय लेखकों की कल्पना के अनुसार यह काल ४५० पूर्व-विक्रम था, और भारतीय परम्परा के अनुसार १७०० पूर्व-विक्रम।

उसने गृह-त्याग का निश्चय कर लिया। अब वह २९ वर्ष का था। एक रात पत्नी को सोया छोड़, सम्पूर्ण वासनाओं को विजय करके वह घर से निकल पड़ा।

१७३. सिद्धार्थ सांख्यमत के मानने वाले आचार्य आराड कलाम के आश्रम में रहा। उसने छः वर्ष कठोर तपस्या की। सातवें वर्ष में वह ज्ञानियों का सत्संग करता रहा। उस समय अनेक सन्त-जन तपस्या किया करते थे। उनसे सिद्धार्थ का मेल होता रहा।

१७४. बौद्ध कहते हैं, अन्त में सिद्धार्थ को ज्ञान हो गया। उनके लिए जीवन का मार्ग खुल गया। सिद्धार्थ बुद्ध अर्थात् तत्त्वज्ञानी बन गया। उन्होंने उस ज्ञान को अपने तक सीमित नहीं रखा। बुद्ध ने अपने प्रथम आचार्य आराड़ कलाम को खोजा। वह इस लोक से चला गया था। बुद्ध ने उपदेश आरम्भ किया। पहला उपदेश वाराणसी के समीप सारनाथ में हुआ। बुद्ध ने शिष्य बनाने आरम्भ किए। पाँच ब्राह्मण उनके सर्वप्रथम शिष्य थे। दीक्षा के समय शिष्य तीन प्रतिज्ञाएँ (त्रिरत्न) करता था। बुद्ध की शरण में आता हूँ। धर्म की शरण में आता हूँ। संघ की शरण में आता हूँ। इति।

१७५. बुद्ध ने सांख्य-ज्ञान प्रवर्तकों की अनेक परिभाषाएँ अपने उपदेश में सम्मिलित कर लीं। भिक्षु, श्रमण, बुद्ध, बोधिसत्त्व, निर्वाण, स्पर्श, मध्यमा प्रतिपत्, प्रत्यय अथवा हेतु तथा विनयी, वही सांख्य की पुरानी परिभाषाएँ हैं। उत्तर-काल में बौद्धमत में अठारह भेद हो गए। इन्हें अष्टादश-निकाय-प्रभेद कहते हैं। ये अठारह भेद साक्षात् सांख्य-सम्प्रदाय में विद्यमान थे। अशोक से पूर्व ही इन अठारह भेदों का अस्तित्व बौद्ध-मत के इतिहास में दिखाई देता है। बुद्ध पर सांख्यमत का प्रभाव अवश्य था और अत्यधिक था।

१७६. मध्यम मार्ग—इसका दूसरा नाम अष्टाँग मार्ग था। मध्यम मार्ग संज्ञा इस लिए थी, कि इसमें सांसारिक वासनाओं और वृथा-तप के मध्य में चलने का आदेश था। तप से शरीर को सुखाना आवश्यक नहीं। अष्टांग मार्ग के तीन भाग थे। पन्न, शील और समाधि। सत्य उद्देश्य, सत्य समझ पन्न है। शील वही है, जो हारीत आदि सांख्य आचार्यों का जीवन-स्वच्छता का मार्ग था। समाधि में एकाग्रता और ध्यान का महत्त्व बताया गया है।

शास्त्र-अनादर—बुद्ध पहला प्रसिद्ध पुरुष था, जिसने शास्त्र-प्रमाण पर बल नहीं दिया। वह कहता था, वर्तमान वेद, पुराना यथार्थ वेद नहीं है। पुराने वेद में यज्ञों में हिंसा का विधान नहीं था। अतः शब्द-प्रमाण से वह विमुख हुआ। उसने अपने त्रिकालज्ञ होने के भी संकेत किए।

बुद्ध का ऐसा कर्म भारत का दुर्भाग्य था।

१७७. प्राचीन काल में महर्षि जैगीषव्य ने अपने सहस्रों पूर्व जन्मों का वृत्त सुनाया था। श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन को कहा था कि मैं अपने सम्पूर्ण बहुजन्मों को जानता हूँ। अतः बुद्ध ने अपने ज्ञानी होने के प्रमाण में अपने पूर्व-जन्मों के वृत्त सुनाए। वे वृत्त उत्तर-काल में जातकों (जन्मों) के नाम से प्रसिद्ध हुए।

१७८. कृतयुग से आरम्भ कर के बुद्ध से पहले तक विद्वत् और सन्त समाज में संस्कृत भाषा का प्राधान्य था। चारों वर्ण इसे समझते थे। अब युग के ह्रास से प्राकृतों की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। राज्य के सुव्यवस्थित न रहने से पठन-पाठन का पुराना क्रम कुछ टूट रहा था। संस्कृत पिछड़ रही थी। बुद्ध शास्त्र से दूर जा रहा था। अतः बुद्ध ने उस काल में अधिक प्रचलित प्राकृत का आश्रय लिया। उसके उपदेश, संघ के नियम, विनय आदि की शिक्षा सब प्राकृत में होने लगी।

१७९. बुद्ध ने सामान्य जीवन पर सदा बल दिया। देश में श्रेष्ठ पुरुष हों, व्यवहार स्वच्छ हो, ढोंग मिटे, जन्म-मात्र से ब्राह्मण न माना जाए, प्रत्युत कर्म से कोई भी ब्राह्मण बन जाए, इन बातों पर उपदेश होने लगे। उस काल का ब्राह्मण हीनवृत्ति हो चुका था। उसने अपना जन्मगत अधिकार छिनता देखा। ब्राह्मण ने बुद्ध के इस सत्य-वचन का, कि जन्ममात्र से ब्राह्मण नहीं होता, विरोध किया।

१८०. इस विरोध से एक संघर्ष उत्पन्न हुआ। यह संघर्ष पहले अति साधारण था। पर उत्तरोत्तर इसकी वृद्धि हुई। जो बौद्ध-मत साधारण सुधार का मत था, वह सर्वथा वेद-विरोधी मत बन गया।

१८१. तथागत बुद्ध ८० वर्ष तक जीवित रहा। बुद्ध के अनुयायी बुद्ध-निर्वाण की अनेक तिथियाँ बताते हैं। चीनी यात्री ह्यून्त्सांग के काल में उससे ९०० से १५०० वर्ष पूर्व तक की तिथियाँ मान्य हो गई थीं। बौद्ध-परम्परा में विच्छेद इस भेद का कारण था। बुद्ध के समय मगध में बिम्बिसार और तदनु अजातशत्रु कुणिक राज्य करते थे। अवन्ति में चण्ड प्रद्योत और कौशाम्बी में उदयन का राज्य था। श्रावस्ति (कोसल) के राजा प्रसेनजित भी बुद्ध-भक्त थे। ये राजगण बुद्ध के उपदेश सुना करते थे और बुद्ध-धर्म को राजाश्रय प्राप्त हो गया था।

बुद्ध के उपदेशों का सब से पुराना उपलब्ध ग्रन्थ सुत्त-पिटक है। इसमें दीघ, मज्झिम, संयुत्त, अङ्गुत्तर और खुड्डस नामक पाँच निकाय हैं।

१८२. बुद्ध के जीवन काल में बौद्ध-मत दूर-दूर तक नहीं फैला था। मध्य भारत और बिहार तक ही इस की सीमाएँ थीं। पर बुद्ध ने जो संघ स्थापित किया था, उसके परिश्रम से, बुद्ध के कुछ काल पश्चात् ही बौद्ध मत बहुत दूर तक पहुँच गया।

अलबेरूनी (संवत् १०८०) लिखता है—

"पुराने काल में खुरासां, पर्सिस, इराक, मोसुल, सीरियर की सीमा तक का देश बौद्ध मतावलम्बी था। तब आधर बैजान से जरथुश्तर आगे बढ़ा। उसने बल्ख में मग (अर्थात्-पारसी) मत का प्रचार किया। उसका सिद्धान्त गुशतास्प को रुचिकर लगा।" इति।

जोरास्ट्र ने श्रमणों को अपना शत्रु बना लिया। यह घटना ईसा से ५०० पूर्व से कहीं पुरानी है। वस्ततुः बौद्ध धर्म बहुत दूर तक पहुँच गया था।

१८३. बुद्ध के महा-परिनिर्वाण के पश्चात् बौद्ध भिक्षुओं ने एक समिति बुलाई। वह राजगृह में एकत्र हुई। उस संगीति वा समिति में बुद्ध का उपदेश एकत्र किया गया। इसके दो भाग थे, धर्म और विनय। धर्म भाग में विभिन्न विषयों पर बुद्ध का उपदेश संग्रह किया गया और विनय में भिक्षु-संघ के आचरण और शिक्षण पर सब ज्ञात सामग्री एकत्र हुई।

१८४. भिक्षु-संघ के व्यवहार वा नियमों की छाप ईसा के मूलशिष्यों और उत्तरवर्ती प्रचारकों पर बहुत पड़ी है। अन्य देशों में अपने मत का प्रचार करना बौद्ध भिक्षुओं और जैन मुनियों का उद्देश्य-विशेष बन गया था। इस्लाम ने यह भाव ईसाईयों से लिया है। प्रचार का भाव वस्तुतः भारत से फैला है।

भगवान् कृष्ण का बुद्ध और ईसा पर प्रभाव—श्री ईसा का कथन कि-'मुझ पर विश्वास करो और मैं तुम्हें तार दूँगा', बुद्ध के ठीक ऐसे कथन का रूपान्तर मात्र है। बुद्ध पर गीता का प्रभाव भी था। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा था, सब धर्मों (कर्तव्याकर्तव्य के उपदेश) को छोड़ कर मेरी शरण में आओ, मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूँगा।

जैन-धर्म

१८५. श्री बुद्ध के समकालीन स्वनाम-धन्य, तपस्वी-शिरोमणि भगवान् वर्धमान् महावीर थे। वे उसी परम्परा में थे, जिसमें श्री पार्श्वनाथ हो चुके थे। जैन धर्म के वे चौबीसवें अथवा अन्तिम तीर्थङ्कर हुए हैं।

१८६. उनका जन्म वैशालि के कुण्डग्राम में एक सम्पन्न क्षत्रिय कुल में हुआ। उनके पिता का नाम सिद्धार्थ था। उनकी माता चेटक-राज की कन्या

त्रिशला थी। श्री महावीर जी ने अपनी माता का नाम देवानन्दा भी कहा है। पहले गृहस्थ रहकर, फिर वैराग्य की पराकाष्ठा के कारण उन्होंने तीस वर्ष की अवस्था में अपने माता-पिता के स्वर्गवास के पश्चात् गृह-त्याग कर दिया। वे अनुकम्पा के समुद्र, तप के भण्डार और ज्ञान के पिपासु थे। जैन-परम्परा में कहा है कि सर्वज्ञ होने पर उन्होंने वस्त्र त्याग दिये और उपदेश आरम्भ किया। उनका जामाता उनका पहला शिष्य था।

१८७. महावीर स्वामी ने मगध, विदेह और अंग में अपने धर्म का प्रचार किया। उनका मृत्यु पावापुरी (जिला पटना) में हुआ। वर्तमान जैन-गणना के अनुसार उनका काल विक्रम से लगभग ५०० वर्ष पूर्व का है। पर प्राचीन जैन-गणना के अनुसार बहुत पहले का था। महावीर जी के काल में गोषाल आदि तपस्वी भी थे। ये महावीर जी का विरोध करते थे। गोशाल तापस आजीवक सम्प्रदाय का प्रसिद्ध आचार्य था। बौद्ध ग्रन्थों में गोशाल और महावीर जी के मतों का खण्डन बहुधा मिलता है।

१८८. भगवान् महावीर स्वामी अर्हन्त ने श्री पार्श्वनाथ के मत की अनेक बातों का प्रचार किया। उनकी चार आज्ञाओं के साथ उन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत और शुद्ध-जीवन पर बड़ा बल दिया। कहते हैं बारह वर्ष के उग्र तप के पश्चात् उन्होंने स्वयं ज्ञान प्राप्त किया था। इसी उग्र तप के लिए उन्होंने संसार को प्रेरित किया। भगवान् महावीर ने ज्ञानी होने के एक वर्ष पश्चात् वस्त्रेषणा त्याग दी। वे अचेलक (निर्वस्त्र) हो गए।

वर्ष के आठ मास घूम-घूम कर उपदेश देते थे, और चातुर्मास्य में भारत के पूर्व के किसी एक नगर के समीप उपाश्रय करते थे। ७२ वर्ष की अवस्था में पावा स्थान पर श्री भगवान् महावीर जी ने यह नश्वर शरीर त्यागा।

१८९. महावीर स्वामी के ग्यारह प्रधान शिष्य थे। उन में से श्रुतकेवली, गौतम स्वामी प्रथम गणधर हुए। तत्पश्चात् सुधर्मा स्वामी (लोहार्य) जैन मत के गणधर हुए। वे भी केवल-ज्ञानी हो गए।

१९०. महावीर के देह-त्याग के कुछ काल पश्चात् जैन यतियों ने पाटली-पुत्र में एक सभा बुलाई। उसमें प्रथम वार जैन-वाचना हुई। द्वादशाङ्ग शास्त्र एकत्र किया गया। जैन धर्म में भद्रबाहु आदि महापुरुष इन अंगों के ज्ञाता हुए थे। जैन शास्त्र को जैन आगम कहते थे। वह मूल शास्त्र नष्ट हो गया है। पर उसका रूपान्तर अंग वाङ्मय के रूप में विद्यमान है। आचारांग और सूत्र-कृतांग ऐसे ग्रन्थ हैं।

१९१. जैन धर्म के कुछ सिद्धान्त सांख्य से मिलते हैं, परन्तु उनका प्रधान

वाद स्याद्वाद था। इसका अर्थ है, "हो सकता है।" तदनुसार प्रत्येक समस्या के अनेक पक्ष हो सकते हैं। जैन आचार्य सृष्टि-कर्ता ईश्वर को नहीं मानते। वे आत्मा और पुनर्जन्म को मानते थे। राग का नितान्त परित्याग जैन धर्म का अङ्ग-विशेष है। धर्म-लाभ अथवा पुण्यशीलता प्रतिक्षण ध्येय मानी गई है। तपस्या के द्वारा उन्नति करते-करते आत्मा केवली अवस्था को प्राप्त करता है।

जैन लोग तीर्थङ्करों की मूर्तियां पूजते थे। यह पूजा अति प्राचीन काल से जैनों में चली आई है। मूर्तियों की स्थापना मन्दिरों में होती थी।

१९२. श्रीमहावीर अर्हन्त अर्द्धमागधी भाषा में उपदेश देते थे। यही भाषा उत्तर-कालीन जैन मुनियों की भाषा रही। जैन सम्प्रदाय ने अनेक पारिभाषिक शब्द पुराने वाङ्मय से लिए हैं। निर्ग्रन्थ और उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी ऐसे ही शब्द हैं।

जैनों के दो प्रधान सम्प्रदाय बन गए, श्वेताम्बर—श्वेत वस्त्र और दिगम्बर—नग्न। श्वेताम्बरों का सम्बन्ध श्री पार्श्वनाथ जी के सम्प्रदाय से अधिक था, और दिगम्बरों का भगवान् महावीर जी से। कालान्तर में जैन मुनि अनेक संघों में विभक्त हो गये।

सन्तों के अनेक गुण जैन मुनियों में विद्यमान थे। पर ज्ञान का उनमें लोप होता गया।

१९३. भारतीय चरित्र—बौद्ध और जैन मतों ने भारतीय चरित्र को नीचे जाने से कुछ रोका। चरित्र का स्तर अधिक नहीं गिरा। स्त्रियों में लज्जा, प्रजा में सत्य, व्यवहार में शुद्धि सब वैसे ही रहे, जैसे प्राचीन काल में थे। समय के कारण इनमें थोड़ा दोष आया, पर इन मतों ने प्रचार उच्चता का किया। राजा व्यसनी होने लग पड़े थे। बिम्बिसार आदि ऐसे ही राजा थे। आर्य क्षत्रियों का सुचरितव्रत अब नीचा हो गया।

पञ्चदश अध्याय

भागवत धर्म

१६४. अति प्राचीन काल से पाञ्चरात्र नाम का एक मत भारत में प्रसिद्ध आ रहा था। महाभारत में इस मत का उल्लेख मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद् में इसका अथवा इससे मिलते-जुलते किसी एकायन-मत का उल्लेख है। महाभारत के शान्तिपर्व में भी एकायन धर्म का उल्लेख है। इन मतों में भक्ति-प्रधान थी। इनके उपदेष्टा नारायण, सनत्कुमार, नारद और असित-देवल आदि थे।

१६५. पहले ये मत वेदानुकूल थे। इनके उपदेष्टा आर्य ऋषि वेद में आदर बुद्धि रखने वाले थे। पर शनैः शनैः ये वेद से परे होते गए। तथापि सर्वथा वेद-विरोधी नहीं हुए। इनमें भक्ति, अहिंसा, वीत-रागता, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि का उपदेश सदा बना रहा। जब बौद्ध और जैन मतों से वेद की सर्वथा अवहेलना हुई, तो ये सम्प्रदाय भागवत धर्म की पताका तले पनपने लगे।

१६६. भागवत धर्म में कृष्ण और बलदेव अथवा सङ्कर्षण की पूजा और आराधना का विधान है। कृष्ण की महिमा महाभारत काल से ही चली आई थी। वे विष्णु का अंश भी कहे जाते थे। अतः एक प्रकार से वैष्णव मत का एक रूप ही भागवत मत था। इसका अर्थ है, भगवान् का मत। इसे सात्वत धर्म भी कहते थे। कारण, श्री कृष्ण का कुल सात्वत कुल था। उस कुल का मत होने से यह नाम पड़ा। इस कुल के तीन अन्य व्यक्ति भी इस भागवत धर्म के मूल-पुरुषों में गिने जाते हैं। वे थे प्रद्युम्न, साम्ब और अनिरुद्ध। ये तीनों श्री कृष्ण के पुत्र थे।

साम्ब—सूर्य की स्तुति से पूर्ण साम्बपञ्चाशिका नाम का एक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। सम्प्रदाय के अनुसार उसके पहले दस श्लोक श्री कृष्ण-रचित हैं। उनमें वेद के मन्त्रों का अर्थ—खोलने वाले सूर्य-विज्ञान की आश्चर्यकरी लीला है।

इस मत में पुरुषों की मूर्तियाँ बनाने का पूरा विधान है।

१६७. भागवत धर्म में अहिंसा, भक्ति और मूर्तिपूजा का विधान है। अहिंसा के कारण ही निरामिष-भोजन वाले भोजनालय आज भी वैष्णव भोजनालय कहाते हैं। वासुदेव में भक्ति रखने वाले को वासुदेवक कहते हैं, यह नियम पाणिनि मुनि ने दर्शाया है। मूर्ति पूजा के कारण भागवतों के अनेक

मूर्ति-मन्दिर भारत में थे। विष्णुधर्मोत्तर ग्रन्थ में भागवतों के महापुरुषों का वर्णन है। महाविद्वान् विष्णुगुप्त के अर्थ-शास्त्र में संकर्षण-भक्त तापसों का उल्लेख है।

१९८. विष्णु का गरुड़ध्वज प्रसिद्ध है। श्री कृष्ण की ध्वजा पर भी गरुड़ का चित्र रहता था। इसी कारण गरुड़ ध्वज नाम का एक स्तम्व विक्रम से लगभग १५० वर्ष पूर्व तक्षशिला निवासी हेलियोडोरस नामक एक यवन राज-पुरुष ने बेसनगर (ग्वालियर) के विदिशा स्थान में बनवाया था। इस पर का शिलालेख आज भी पढ़ा जा सकता है। भागवत धर्म पर गीता की छाप भी पड़ी थी।

१९९. इस मत के पाञ्चरात्र रूप पर प्रकाश डालने वाले अनेक संहिता ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं। यथा-अहिर्बुध्न्य संहिता, जयाख्य संहिता, ईश्वर संहिता, सात्वत संहिता आदि।

शैव धर्म

२००. वैष्णव धर्म के साथ-साथ शैवमत भी पुराने काल से भारत में चला आ रहा है। इसके आदि-प्रचारक साक्षात् भगवान् शिव थे। इन्हें ईश्वर, महेश्वर, महादेव और रुद्र आदि नामों से पुकारते थे। वेदों में आकाशी रुद्र का वर्णन है। वह आग्नेय परमाणुओं का रूपान्तर है। पर ये शिव पृथ्वी पर देह-धारी मनुष्य थे। वे महायोगी, विद्वान्, योद्धा और शूर थे।

शिव अर्थात् विशालाक्ष ने विशालकाय अर्थशास्त्र का उपदेश किया था। वे किसी छन्द शास्त्र के भी रचयिता थे। शिव-उपदिष्ट धनुर्वेद भी पुराने ग्रन्थों में उद्धृत है। कहीं इसे त्रैयम्बक धनुर्वेद और कहीं शिव अथवा ईश्वर धनुर्वेद भी कहा है।

पूर्व संख्या १६८ के अन्तर्गत अङ्क २ के प्रसङ्ग में त्र्यम्बक के गान्धर्व नामक परमास्त्र का उल्लेख किया गया है। वह अस्त्र इसी अनुर्वेद में उपदिष्ट होगा।

योग शास्त्र—शिव का योग उपदेश अथवा रुद्र भाषित-योग[1] वायु-पुराण में सविस्तर सन्निविष्ट है। यह महेश्वर योग भी कहाता था।[2]

भगवद्गीता में श्री कृष्ण इसे ऐश्वर योग कहते हैं।

शिव के प्रधान शिष्य नन्दी थे। शिव के उपदेश का यहूदी धर्म पर बड़ा

---

१. वायु-पुराण १०।७७॥

२. वायु-पुराण १०।६९॥

प्रभाव था। शिव ही मिस्र और योरोप के यहूदियों का एकमात्र देव था। शिव के भक्त गणों में विभक्त थे। गणराज्य का मूल इन्हीं से चला है। सम्पूर्ण पंजाब, काश्मीर और योरोप के प्रदेश शैवमत के प्रभाव के नीचे थे।

२०१. उत्तर-काल में लकुलीश (नकुलीश) नाम के एक आचार्य इस सम्प्रदाय के उपदेष्टा हुए। वायुपुराण के अनुसार वे कृष्ण द्वैपायन व्यास जी के समय में थे। इनका जन्म सौराष्ट्र के किसी स्थान में कहा जाता है।

भारत में लकुलीश सम्प्रदाय का प्रचार दसवीं-ग्यारहवीं शती विक्रम तक अवश्य रहा है। इसका प्रमाण शिलालेखों में मिला है।

पाशुपत, कापालिक आदि लोग भी शैव सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही हैं।

इनके शास्त्रों को आगम, सिद्धान्त और तन्त्र आदि कहते हैं। शिवधर्मोत्तर इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ था। लकुलीश ने भी कोई शास्त्र लिखा था। उसके श्लोक भी उद्धृत-रूप में दिखाई देते हैं।

पाशुपत लोग न्याय शास्त्र के महान् पण्डित थ। न्यायवार्तिक-कर्ता भारद्वाज उद्योतकर पाशुपत आचार्य था।

योग-विद्या में कभी शैवों की बड़ी गति थी। वे पाँच पदार्थों में विश्वास रखते थे। (१) कार्य, (२) कारण, (३) योग, (४) विधि और (५) दुःखान्त। इनके पदार्थ-ज्ञान के विना मोक्ष असंभव है।

शैव धर्म का भारत पर बड़ा प्रभाव रहा है। जिस काल का हम उल्लेख कर रहे हैं, उस काल में यह मत भारत के उत्तर में अवश्य विद्यमान था। आज भी शिवरात्रि का त्यौहार सर्वत्र मनाया जाता है।

उत्तर काल का शैव-धर्म दक्षिण-भारत में भी फैला। इस मत के शास्त्र आज दक्षिण और काश्मीर में ही अधिक मिलते हैं। दक्षिण में इस मत के अनेक मन्दिर भी हैं। इनमें मूर्ति-पूजा होती है।

२०२. वैदिक—बुद्ध के काल में भारत से वेद का धर्म लुप्त नहीं हो गया था। वेदों की वर्णाश्रम मर्यादा पूर्ववत् तो नहीं थी, पर सर्वथा नष्ट भी नहीं हुई थी। जिस प्रकार प्राचीन काल में तप से वर्ण बदल जाता था, वह बात अब नहीं रही थी। अग्निहोत्र आदि यज्ञ भी होते थे। संस्कृत विद्या का सर्वथा लोप नहीं हुआ था। सुबन्धु (प्रथम) आदि महान् कवि उदयन आदि की सभाओं को सुशोभित करते थे। वैष्णव और शैव सम्प्रदाय अनेक वैदिक-विचारों को धारण किये थे। बौद्ध और जैन-मत दूर-दूर तक नहीं फैले थे।

पुराने परिव्राजक, जो निरुक्त में उल्लिखित हैं, इस काल में वर्तमान थे।

अंगुत्तरनिकाय और महानिद्देस में त्रैदण्डकों और परिव्राजकों का उल्लेख मिलता है।

मुनि भास

२०३. तथागत बुद्ध और महावीर स्वामी के मत शनैः शनैः अपना अधिकार जमा रहे थे। जैन मुनियों के योगज चमत्कार सैंकड़ों श्रावकों को सन्तुष्ट और तृप्त कर रहे थे। रामायण और महाभारत का स्थान छिन रहा था। ऐसे काल में संस्कृत वाङ्मय का उद्धार करने वाला एक महान् लेखक जन्मा।

२०४. भास का स्मरण नाटक-कार महाकवि कालिदास करता है। उस को भय है कि प्रथितयशा भास आदि के नाटकों को छोड़ कर उसका नाटक कौन पढ़े और देखेगा। कालिदास ने जिस को प्रथित-यशा लिखा है, वह वस्तुतः भारतीय प्रजाओं में अति प्रिय नाटककार होगा।

२०५. जब सम्वत् १९६४ में भास के नाटक प्रथम वार परलोकगत महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री ने त्रिवन्द्रम से प्रकाशित किए, तो योरोप के लोगों ने बहुत शोर मचाया। पाश्चात्य ईसाई लेखक कृतसंकल्प हो गए कि भास का काल पुराना सिद्ध न होने दिया जाए। अपने दुराग्रह को उन्होंने वैज्ञानिक वृत्ति का नाम दिया। पर सत्य छिपा नहीं रहता।

२०६ महाकवि भास उदयन का उत्तरवर्ती था। भास के स्वप्न-नाटक का नायक उदयन है। भास शूद्रक का पूर्ववर्ती है। यह सर्वसम्मत है कि शूद्रक का मृच्छकटिक प्रकरण भास के चारुदत्त नाटक का रूपान्तर है। सम्राट् शूद्रक संवत्-प्रवर्तक विक्रम से बहुत पहले आन्ध्र-काल में था। विष्णुगुप्त चाणक्य शूद्रक का पूर्ववर्ती है। शूद्रक उसका नाम-स्मरण करता है। कौटल्य अपने अर्थशास्त्र में दो श्लोक उद्धृत करता है। इनमें से दूसरा श्लोक भास-कृत प्रतिज्ञा यौगन्धरायण नाटक की उपलब्ध प्रतियों में मिलता है। अतः निश्चय से कहा जा सकता है कि भास मौर्यकाल से पहले और बुद्ध के समकालिक उदयन से उत्तर-काल का था।

२०७. भास नाटक-चक्र की विशेषता—भास ने अपने अधिकांश नाटकों की कथा-वस्तुएं रामायण और महाभारत से ली हैं। उसके काल में ये बहुमूल्य इतिहास अपने वर्तमान रूप में ही होने चाहिएं। नाटकों का संकेत इसी दिशा की ओर जाता है। भास ने आदर्श आर्य पुरुषों के चरित्र चित्रित करके उनको प्रजा में सजीव कर दिया। भास के चित्रण में अश्लीलता का

गन्धमात्र नहीं। उसका शृङ्गाररस का प्रतिपादन अपने ढंग का है। उत्तर-कालिक कवियों के लेख की नीच-प्रवृत्ति की मात्रा उसमें नहीं थी।

भास की संस्कृत स्वाभाविक और व्यवहार की संस्कृत है। उसमें सरलता और परिमार्जन है। शब्द-राशि की विपुलता स्पष्ट हृदयङ्गम होती है। भास तक पाणिनि का प्रभाव अधिक नहीं था। उसके नाटकों में पूर्वकाल की संस्कृत के अनेक प्रयोग उपलब्ध होते हैं।

२०८. नन्द-काल—नन्दकाल की सांस्कृतिक घटनाओं का कोई विशेष वृत्त अभी उपलब्ध नहीं हुआ। वररुचि आदि कवि इस काल में हुए हैं। वररुचि का एक भाण इस समय मिलता है। नन्द राज ने तोल के मानों में एक नूतनता उत्पन्न की। उसके चलाए वाट आदि आज तक चले आ रहे हैं। इस काल की वस्तुकला आदि का भी अधिक ज्ञान उपलब्ध नहीं।

मौर्य-काल

चन्द्रगुप्त मौर्य—बृहद्रथ मौर्य तक

विक्रम से १४००[1]—१२०० वर्ष पूर्व तक

२०९. ब्राह्मण का विजय—महाराज नन्द ने सर्वक्षत्र का अन्त करके अपना महान् राज्य स्थापित किया। भारत में छोटे-छोटे राज्य समाप्त हो गए। नन्द का एकछत्र राज्य हो गया। उसका धन अपरिमित और उसका अभिमान असीम हुआ। ये बातें पराभव का मुख हैं।[2] उसने महान् विद्वान्, ब्राह्मण-प्रवर विष्णुगुप्त की अवहेलना की। ब्राह्मण का क्रोध और तेज चमका। उसकी बुद्धि का विकास हुआ। नन्द का उन्मूलन हुआ। चन्द्रगुप्त मौर्य पाटलिपुत्र के राज-सिंहासन पर बैठा। विष्णुगुप्त महामन्त्री बना।

२१०. आदर्श महामन्त्री—ब्राह्मण चाणक्य एक विशाल साम्राज्य का महामन्त्री था। सुदूर उत्तर-पश्चिम से आसाम की पूर्वीय सीमा तक और दक्षिण में मैसूर तक उसकी आज्ञाएँ चलती थीं। पर ऐसा प्रतापी पुरुष अप्रति-ग्राहक-शिरोमणि था।[3] वह राज-कोष से मासिक-वेतन ग्रहण नहीं करता था। उसके रहने के लिए, उसके पूर्वजों की छोड़ी एक कुटिया और निर्वाह के लिए उस की थोड़ी सी भूमि की उपज ही पर्याप्त थी। महामन्त्री ने अपनी परम्परागत वृत्ति छोड़ी नहीं थी। वह स्वयं छात्रों को पढ़ाता था। वह निरभिमान था।

---

१. पाश्चात्य लेखकों के अनुसार विक्रम से २५० वर्ष पूर्व।
२. शतपथ ब्रा०। ३. कामन्दक नतिसार।

२११. अर्थशास्त्र—वेद-शास्त्र-पारङ्गत महामन्त्री ने अपने राजा की सुविधा के लिए एक अर्थशास्त्र बनाया। अर्थशास्त्र में पृथ्वी के लाभ और पालन की विद्या रहती है। इस विषय पर विशालाक्ष शिव, वाहुदन्तीपुत्र इन्द्र, देवगुरु वृहस्पति, देवर्षि नारद, द्रोण भारद्वाज, कौणपदन्त भीष्म और वृष्णि-मन्त्री उद्धव आदि के जो प्राचीन अर्थशास्त्र थे, उनका संक्षेप कर के चाणक्य ने अपना ग्रंथ रचा। इसमें महाभारत संहिता का उपयोग भी वहुधा किया गया है। मानव धर्मशास्त्र, नारद स्मृति, हारीतधर्मसूत्र और याज्ञवल्क्य आदि कृत स्मृति-ग्रन्थों का उपयोग भी बहुत हुआ है।

योरोपीय लेखकों ने इस ग्रंथ को भी तीसरी-चौथी शती ईसा में रखने का भगीरथ प्रयत्न किया। वे भयभीत हैं कि इस ग्रन्थ के पुराना सिद्ध होने से उनके द्वारा कल्पित भारतीय वाङ्मय की तिथियाँ सब त्याज्य हो जाएँगी। पर वे सफल-मनोरथ नहीं हुए। लगभग सब भारतीय विद्वानों ने इस ग्रन्थ को विष्णुगुप्त चाणक्य की कृति ही माना है। इस ग्रन्थ का देर तक भारत में प्रभाव रहा। राज-शास्त्रों में इसका स्थान उच्च था। इसमें गागर में सागर को वन्द किया गया है।

कौटल्य के ग्रन्थ के विषय में जर्मन विद्वान् जोहेन्स मायर का आदर देखने योग्य है। इस ग्रन्थ के उत्कृष्ट जर्मन अनुवाद की भूमिका में मायर के उद्गार निम्नलिखित हैं—

कौटल्य के ग्रन्थ का अनुवाद करना टेढ़ी खीर है। यह दुःसाध्य काम है। यदि कोई विद्वान् मुझ से ५०० गुणा अधिक जानता हो, और निरन्तर वीस वर्ष इस ग्रन्थ के स्वाध्याय में लगाए, तो वह इसके अनुवाद के साथ न्याय कर सकेगा। इति।

कौटिल्य ने वर्णाश्रम की पुरानी मर्यादा को स्वीकार किया है। उस के ग्रन्थ में तीन वर्ष के वालकों को लिपि और संख्यान के आरम्भ कराने का विधान है। जनपद की जनगणना का विधान है और जन-संख्या बढ़ने पर नए नगर वसाने का आदेश है। उन दिनों अहिंसा का प्रचार था, पर सूनागृह भी थे। वच्छड़ा, वैल और गाय अवध्य थे। आशुमृतक परीक्षा और प्रतिस्थान के वर्षा-जल के मापने का उसने विधान किया है।

इस असाधारण योग्यता का भण्डार वह महान् निस्पृह ब्राह्मण था। अर्थशास्त्र के अतिरिक्त चाणक्य ने न्यायसूत्रों पर वात्स्यायन के गोत्र नाम से अपना अनुपम भाष्य रचा।

२१२. बौद्ध भिक्षु, उसके विरोधी—उन दिनों भिक्षु वनने का एक रोग

हो गया था। जो कोई उठता था, थोड़ा सा वैराग्य होने पर ही भिक्षु बन जाता था। अनेक चोर, डाकू, दण्ड्य-पुरुष भी भिक्षु बन जाते थे। वे शासन के दण्ड से ऊपर हो जाते थे। प्राचीन-काल में संन्यासी अथवा भिक्षु बनने के लिए वेदान्त-विज्ञान से सुनिश्चितार्थ होने और पूर्ण वैराग्यवान् होने की आवश्यकता होती थी। अब विना नियम लोग भिक्षु बनने लगे थे। कौटल्य ने एक राज-नियम बना दिया। धर्मस्थान में न्यायाधीश के सामने विना प्रमाण उपस्थित किए कोई भिक्षु नहीं बन सकेगा। चाणक्य दृढ़ रहा। धर्म-नियम सर्वोपरि था। ब्राह्मण ने न्याय-तुला के दोनों पलड़े ठीक रखे।

२१३. दासप्रथा—उस समय भारत में दास-प्रथा आरम्भ हो चुकी थी। इसका रूप वैसा नहीं था, जैसा संसार के अन्य देशों में था। कौटल्य लिखता है—आर्यों में दास-भाव नहीं था। म्लेच्छ-देशों से दास यहाँ आकर विकते थे। उनके साथ भारतीय-व्यवहार बहुत ऊँचा था। कौटल्य ने कड़े नियम लिखे हैं। दासों से निर्दयता का व्यवहार वर्ज्य था।

म्लेच्छ देशों में काल्डिया, ईराक, अरब और मिस्र आदि की गणना हो सकती है।

२१४. संस्कृत प्रचार—बौद्ध, जैन और वैदिक मत एक साथ चल रहे थे। प्राकृतों का प्रचार बढ़ रहा था, पर संस्कृत का स्थान नीचा नहीं हुआ। शिष्टों की भाषा संस्कृत थी। तभी महामन्त्री ने अपना ग्रन्थ संस्कृत में लिखा। चाणक्य ने एक दूसरे विद्वान् से चन्द्रगुप्त-चरित नामक एक महान् ग्रन्थ संस्कृत में लिखवाया। उसके रचयिता को धन की प्रभूत-मात्रा भेंट की गई। यह ग्रन्थ अब तक उपलब्ध नहीं हुआ।

अन्न भण्डार—दुर्भिक्ष के समय प्रजा की रक्षा के लिए बहुत स्थानों पर अन्न को सुरक्षित करने के लिए अन्न-भण्डार बनवाये जाते थे।

अशोक

२१५. धर्म-शासन—अशोक के काल में बौद्ध-मत अपने ऐश्वर्य की पराकाष्ठा पर पहुँचा। वह राजमत बना। अशोक ने धर्मशासन निकाले। उनमें चरित विषयक उपदेश भी थे। बाल-बच्चों को माता-पिता अथवा वृद्धों की और शिष्यों को गुरु की आज्ञा में रहने का आदेश हुआ। श्रमणों और भिक्षुओं के प्रति श्रद्धा-भाव रखने की आज्ञा थी। सर्व-प्रथम परिवार का सुधार आवश्यक माना गया था। भिन्न-भिन्न मत वालों को एक दूसरे के प्रति आदर-भाव रखने की शिक्षा थी। बारहवें धर्म-शासन में इस विषय का विशद उल्लेख है।

२१६. अहिंसा—हम लिख चुके हैं कि सतयुग में प्रजा निरामिष-भोजी थी। महाभारत-काल तक भी भारत में मांस-भक्षण का अधिक प्रचार न था, पर शनैः शनैः यह प्रचार बढ़ा। अशोक ने इस पर ध्यान दिया। उस ने पहला सुधार अपने राज-घर से आरम्भ किया। राजकीय पाकशाला के लिए जो पहले अनेक पशु-पक्षी मारे जाते थे, उनकी संख्या सीमित की गई। केवल एक हरिण और दो मोर मारे जाने लगे। उत्तर-काल में इनका वध भी वन्द कर दिया गया। वर्ष में ५६ दिनों पर मछली का मारना, बेचना और खाना वर्जित किया गया। उसके आत्मा में अहिंसा-धर्म जागा। मानव तथा पशु-पक्षी जीवन का मूल्य बढ़ा। अनेक धर्म-शासनों में इसका उल्लेख है। उस ने आखेट पर जाना वन्द कर दिया। पर सूना-गृह सर्वथा वन्द नहीं हुए।

२१७. युद्ध बन्द हुए—व्यास ने धृतराष्ट्र को कहा था, वेद में वध की पूजा नहीं है। वृथा युद्ध हेय है। स्वार्थान्ध लोग इसे नहीं मानते थे। अशोक ने युद्ध का परित्याग कर दिया। वह दूसरी पराकाष्ठा पर पहुँचा। दुष्टों के प्राबल्य पर भी उसने युद्ध को बुरा माना। भेरी-घोष वन्द हो गया। धर्म-प्रचार के लिए दूत सर्वत्र भेजे गये।

२१८. तीसरी बौद्ध संगीति—अशोक के काल में पाटलिपुत्र में तीसरी बौद्ध संगीति हुई। इसके प्रधान थे मोग्गलिपुत्त-तिस्स (=उपगुप्त)। इस संगीति ने भारत के दूर प्रान्तों में प्रचारक भिक्षु भेजे। यवन-देश में भी दूत गये। ऐसे प्रचार के फलस्वरूप ही बौद्ध-मत ईरान और ईराक आदि देशों तक पहुँचा। अशोक के भिक्षु मिश्र देश तक पहुँचे। पर बौद्ध मत इन देशों से परे भी फैल गया।

२१९. धर्मयात्रा—पहले राजा विहार-यात्राओं पर निकलते थे। ये आमोद-प्रमोद के लिए होती थीं। इनका स्थान धर्म-यात्राओं ने ले लिया। लोग तीर्थ-स्थानों पर जाने के लिए प्रेरित किए गये। बौद्धों के लिए लुम्बिनी ग्राम और बोध-गया धर्म-यात्रा के स्थान बन गये। महाभारत में यादव बलराम की धर्मयात्रा=तीर्थयात्रा का उल्लेख है। अशोक की धर्म-यात्राएँ उसी के अनुकरण पर थीं।

२२०. प्रस्तर-कला—अशोक ने २४,००० स्तूप अथवा विहार बनवाए। अनेक स्तूप बहुत ऊँचे थे। बराबर और नागार्जुनी पहाड़ी पर पर्वत काटकर जो भवन बनाये गये थे, वे आज भी अशोक के धर्म-प्रेम का नमूना हैं। अशोक-स्तम्भों पर जो वज्रलेप अथवा जिला का काम हुआ है, उसका दृष्टान्त अन्यत्र

नहीं मिलता। सहस्रों वर्षों से वह उसी प्रकार है, जैसे कल ही हुआ था। बलिवर्द और केसरी-मूर्तियाँ संसार भर की कला में अतुलनीय हैं।

२२१. तडाक-निर्माण—गिरनार (=जूनागढ़) के समीप रैवतक और अर्जयत गिरियों पर अशोक ने सुदर्शन नाम का एक महान् तड़ाक (झील) बनवाया। यह तड़ाक पाथस वास्तुविदों (जल के एञ्जिनियरों) के ज्ञान का एक अच्छा दृष्टान्त था। उत्तर-काल में इस तड़ाक का जीर्णोद्धार होता रहा है। वर्षा के पानी के बिना कृषि नष्ट न हो, इस निमित्त ऐसे तड़ाक बनाये जाते थे।

नहरें भी अति प्राचीन काल से भारत में बनती रही हैं। तड़ाक और नहरों आदि की विद्या पाथस-शास्त्रों में वर्णित थी।

२२२. चिकित्सालय—अशोक ने मनुष्य और पशु-चिकित्सा का श्रेष्ठ प्रबन्ध किया था। इस निमित्त असुलभ जड़ी-बूटियाँ भी लगवा दी थीं। आरोग्य-शालाओं में रोगी रह सकते थे। भारतीय चिकित्सा जो चिर-काल से चली आती थी, उन दिनों योग्य चिकित्सकों के हाथ में थी।

२२३. मार्ग विषयक प्रबन्ध—मार्गों के दोनों ओर वृक्ष लगवाये गये थे। मनुष्य और पशु इनकी छाया में विश्राम लेते थे। आठ-आठ कोस पर कुएँ खुदवाये गये थे। अनेक आम्रवन और सराएँ पड़ाव के समीप बनवाई गई थीं। अनेक प्रपा-स्थान (प्याऊ) भी बनवाये गये थे। फल-फूल के वृक्ष पर्याप्त थे।

जैन धर्म का उदय

२२४. मौर्य-वंश का सम्प्रति राजा बहुत प्रसिद्ध हुआ है। वह सम्भवतः कुणाल का सबसे छोटा पुत्र था। वह जैन-धर्म का अनुयायी था। आर्य सुहस्ती ने उसे जैन धर्म में दीक्षा दी थी। वह शत्रुञ्जय-तीर्थ का एक प्रधान उद्धार-कर्ता था। वह त्रिखण्ड भारताधिप तथा अनार्य देशों में भी श्रमण-विहारों का प्रवर्तक महाराज था। उसके आदेश से जैन साधु अनार्य देशों में गये।

मौर्य-राज्य-काल में संस्कृति का स्तर पर्याप्त अच्छा रहा।

———

षोडश अध्याय

शुङ्ग और काण्व काल

२२५. वैदिक धर्म का पुनरुत्थान—मौर्यों के अन्तिम राजा बृहद्रथ का सेनानी शुङ्ग पुष्यमित्र था। बृहद्रथ अति वृद्ध और प्रज्ञा-दुर्बल हो गया। उस के सेनानी ने उसे सेना दर्शन के लिए बुलाया, और वहीं उसका वध कर दिया। एक भारतीय सेवक अपने स्वामी का वध करे, यह एक हृदय-वेधक घटना थी। हर्षचरित का लेखक भट्ट बाण इसी कारण पुष्यमित्र को अनार्य लिखता है। ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर पुष्यमित्र ने स्वामीवध किया, इसका कारणविशेष होगा।

नहीं कह सकते कि बृहद्रथ दुष्ट भाव-युक्त था, अथवा प्रज्ञा-दुर्बल होने से कोई अनिष्ट आज्ञाएं करता था, और प्रजा उस से तंग थी।

२२६. पुष्यमित्र के काल से बौद्ध-मत का वह महत्त्व हट गया, जो उसे राजमत होने से प्राप्त था। बौद्ध ग्रन्थों में लिखा है कि पुष्यमित्र ने भिक्षुओं को मरवाया। विचार-भेद के कारण मतान्धता के कारण ऐसी घटनाएं बौद्ध-काल से आरम्भ हो गई प्रतीत होती हैं।

२२७. अश्वमेध आदि यज्ञ जो सैकड़ों वर्ष से लुप्त-प्रायः थे, अब पुनः होने लगे। पुष्यमित्र ने स्वयं ऐसा एक यज्ञ किया।

२२८. पतञ्जलि मुनि—पुष्यमित्र का पुरोहित मुनि पतञ्जलि था। वही उसका यज्ञ करा रहा था। महामुनि पतञ्जलि भारतीय संस्कृति का एक विशेष महापुरुष है। परम्परा से सुपरिचित, बहुविध शास्त्रों के ज्ञान का समुद्र, संस्कृत विद्या का संरक्षक, व्याकरण-महाभाष्य का कर्ता पतञ्जलि मुनि असाधारण पुरुष था।

वाक् की उत्पत्ति आदि-सृष्टि में कैसे हुई, और वेद-वाक् अनादि है, इस तत्त्व का सम्यक् ज्ञान पतञ्जलि मुनि को था।

पतञ्जलि शब्द-प्रमाण-वादी मुनि था। वह औदुम्बरायण, यास्क, व्याडि और पाणिनि की परम्परा का रक्षक था। उससे कई सौ वर्ष पूर्व से वेद के शब्द-प्रमाण का जो पक्ष गौण किया गया था, उसने अपने बहुमूल्य ग्रन्थ में उस पक्ष का खण्डन करके वेद का उद्धार किया। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध क्यों नित्य है, इस पर उसके तर्क पाठ-योग्य हैं। बहुधा एक सिद्धान्त पर वह

अनेक पूर्वपक्ष उद्धृत कर के उनका निराकरण करता है।

२२९. पतञ्जलि की संस्कृत, सरल, प्राञ्जल, स्वाभाविक और न्यायों से लदी पड़ी है।[1] व्याकरण सदृश शुष्क विषय को सरस बनाना पतञ्जलि के ही भाग्य में था। पतञ्जलि की पाणिनि में अगाध श्रद्धा थी। वह विशाल संस्कृत वाङ्मय का पण्डित था। उस के काल में आर्यावर्त के ब्राह्मण संस्कृत के शुद्ध-प्रयोग में प्रमाण माने जाते थे। वह वैद्यक, इतिहास, पुराण, वाकोवाक्य, आख्यायिका, नाटक, धर्म-शास्त्र आदि का महान् पण्डित था।

२३०. पतञ्जलि के काल में ग्राम-ग्राम में यजुर्वेद की कठ और कालाप शाखाएं पढ़ी जाती थीं। इससे प्रतीत होता है कि उस समय भी ब्राह्मणों के ग्राम थे और उनके निर्वाहार्थ ग्राम के साथ की भूमियाँ उन्हें मिली हुई थीं। उस समय परिव्राजक भी विद्यमान थे। श्रमण और ब्राह्मणों का वैमनस्य हो रहा था। वायस-विद्या के अभ्यास करने वाले भी थे। ज्योतिष के अनेक अङ्गों के जानने वाले और अङ्गविद्या अथवा सामुद्रिक शास्त्र जानने वाले भी थे। यज्ञ कराने वाले अभिचार यज्ञों में लोहितोष्णीष अर्थात् लाल रंग की पगड़ियाँ पहनते थे। नाटक खेले जाते थे। नगरकार अर्थात् नगर बनाने वाले एञ्जिनियर होते थे। मांस खाने वाले भी थे।

२३१. पतञ्जलि पता देता है कि कभी उदीच्य, कम्बोज, सुराष्ट्र, प्राच्य और मध्य देशों में सर्वत्र संस्कृत बोली जाती थी। पर उसके काल में शिष्ट-आर्य ही शुद्ध संस्कृत बोलते थे। वह दक्षिण के आर्यों के संस्कृत-प्रयोगों की विशेशताएं भी बताता है।

शेष—पतञ्जलि का एक अन्य नाम शेष भी था। इस नाम से उस का एक कोष और सांख्य का एक आर्या पञ्चाशीति नामक ग्रन्थ अब भी उपलब्ध है। सांख्य का विद्वानों में उस समय भी आदर था।

उसके काल में गुरुकुल प्रणाली प्रचलित थी। देवियाँ आपिशल व्याकरण पढ़ती थीं। ऐसी कोई ब्राह्मणी आपिशला ब्राह्मणी कही जाती थी। इसी प्रकार काशकृत्स्नी मीमांसा पढ़ने वाली ब्राह्मणी काशकृत्स्ना ब्राह्मणी कहाती थी। स्त्रियों में उच्च-विद्या का प्रचार था। स्त्रियाँ पढ़ाया भी करती थीं। उन्हें उपाध्याया और आचार्या कहते थे।

———

१. मण्डूकप्लुतिन्याय। कुम्भीधान्य न्याय। अग्नौ करवाणि न्याय। काकतालीय न्याय।

सप्तदश अध्याय

भारतीय संस्कृति का विभिन्न देशों पर प्रभाव

२३२. हम संख्या ३६ के अन्तर्गत लिख चुके हैं कि दिति के पुत्र दैत्य लोग काल्डिया और सुमेर आदि में बस गये थे। उन्हीं की सन्तानें सारे योरोप में फैलीं। इनकी भाषा उत्तर-काल में संस्कृत का विकृत-रूप म्लेच्छ-भाषा बनी। ये लोग आर्य-मार्ग से बाहर हुए, गोमांस खाने लग पड़े और प्रायः असुर-देवों के पूजक हो गए।

इनके अतिरिक्त मध्य एशिया, ईरान, और भारत के पूर्व और दक्षिण की अनेक जातियाँ थीं, जो थोड़ा-थोड़ा आर्य संस्कार रखती रहीं, पर पूरी आर्य न रहीं। ऐसी अनेक जातियों के नाम महाभारत के विभिन्न प्रकरणों में मिलते हैं। उन सबको एकत्र करके हमने आगे लिख दिया है।

२३३. शक, चीन (छोटा), यवन, काम्भोज, तुषार (तुखार), पारद, पल्लव, बर्बर (ईरान का भाग), दार्व (=दारी, ईरान की जाति), दरद, गांधार, किरात, द्राविड़ (=द्रमिड़=तामिल) शबर (भिल्ल, भील ?) उशीनर (शोरकोट-झंग), आरट्ट, उष्ट्र (दासेरक), मद्रक, पुलिन्द, आन्ध्र, कलिंग, किष्किन्धक (वानर), कोलिसर्प (कोल), सिंहल, नीरग, काच आदि। म्लेच्छों में से राक्षस और प्रेत जातियाँ उल्लिखित हैं। इनमें से पिशाच और राक्षस कभी देवों की जातियाँ थीं। ययाति के पुत्र अनु की संतान में भी अनेक म्लेच्छ जातियां हुईं। ये पूर्व-लिखित सब जातियाँ ब्रह्मक्षत्र प्रसूत थीं, अर्थात् इनके पूर्वज ब्राह्मण और क्षत्रिय थे। ये सब संस्कृत बोलते थे।

बर्बर देश ईरान का एक भाग था। शक, यवन, काम्भोज, तुषार, पारद (Parthians), पह्लव (Pahlava), बर्बर, दरद सब संस्कृत बोलते थे। तामिल लोग भी कभी शुद्ध संस्कृत भाषी थे। योरोप के भाषाविदों ने इन देशों की भाषाओं को संस्कृत से विभिन्न वर्गों में रखकर बड़ी भूल की है। इन जातियों पर भारतीय प्रभाव कभी बहुत अधिक था।

२३४. मिश्र के लोग सृष्टि उत्पत्ति का लगभग वही प्रकार मानते थे, जो वैदिक ग्रंथों में मिलता है। यथा—आदि के समुद्र (समुद्र अर्णव) से कमल (हिरण्यगर्भ) उत्पन्न हुआ। वायु के प्रभाव से सूर्य और पृथ्वी दूर-दूर हुए। ये ठीक वैसे भाव हैं, जैसे ब्राह्मण ग्रन्थों में पाये जाते हैं। मिश्र के अति

प्राचीन ग्रन्थों में ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (सृष्टि-उत्पत्तिसूक्त) के एक मन्त्र का ठीक अनुवाद पाया जाता है।

मिश्र का राजा मेनेस (मनु) था। मिश्र के लोग वाक् की उत्पत्ति देवों से मानते थे। एतद्विपयक ऋग्वेद का भी मन्त्र है। उस का अनुवाद है—देवी वाक् को देवों ने उत्पन्न किया। इति। मिश्र में अनु के वंशज आनवों का राज्य था। इस विषय के अनेक प्रमाण योरोपीय ग्रन्थकार मैसपरो ने दिए हैं।

२३५. सुमेर आदि में हिरण्यकशिपु, प्रह्लाद, विरोचन, और वलि (वाईविल में वालि अथवा वाल) का राज्य था। रक्षा-वन्धन के समय जो पुराना श्लोक आज भी पढ़ा जाता है, उसमें इसी वलि के बाँधे जाने का वर्णन है। इन्हें हेरोडोटस 'आदि के देव' कहता है। महाभारत में इन्हें 'पूर्वे देवाः' कहा है। पहले ये वेद पढ़ते थे, यज्ञ करते थे। इनके प्राचीन ग्रन्थों में सात वुद्धिमानों का उल्लेख है। वे सात बुद्धिमान सप्तर्षि थे, और कोई नहीं।

असुर देश=असीरिया का एक राजा सारागोन अर्थात् सगर भी था। यह नाम इक्ष्वाकु कुल के सगर राजा के नाम पर है।

२३६. ईरान—ईरानी जाति अति प्राचीन है। इसमें कभी सुग्धी, पारसी, पल्लव, वर्वर और दार्व आदि अवान्तर जातियाँ थीं। ये स्पष्ट ही प्राचीन क्षत्रिय जातियों की परम्परा में थीं। ईरान में कवि उशना का बड़ा मान रहा है। वह पारसियों के धर्म-ग्रन्थ अवेस्ता में स्मरण किया गया है। कवि उशना अथवा शुक्राचार्य का उल्लेख पहले हो चुका है। अवेस्ता में ऋग्वेद के एक मन्त्र का अंश याथातथ्यरूप में वर्तमान है। अवेस्ता में शण्ड और मर्क नामक पुरोहितों का उल्लेख है। ये दोनों वैदिक वाङ्मय में असुरों के पुरोहित कहे गये हैं।

ईरान का पहला राजा यिम विवव्वन्त अथवा यम वैवस्वत था। वह यम वैवस्वत मनु का भ्राता था।

२३७. यहूदी जाति—यह जाति पहले मिश्र में रहती थी। मूसा इनका प्रमुख-पुरुष था। वह मिश्र के ज्ञान-विज्ञान में निपुण था। मूसा और उसके अनुयायियों को मिश्र त्यागना पड़ा। वे सीरिया में आकर बस गये। मूसा का वृत्तान्त पुरानी बाईविल में है। इसमें उत्पत्ति का प्रायः सारा अध्याय ब्राह्मण ग्रन्थों का विकृत अनुवाद-मात्र है। सर्वप्रथम पृथ्वी और द्युलोक उत्पन्न हुए। तदनन्तर सूर्य और चन्द्र बने। ये भाव अक्षरशः ब्राह्मण ग्रन्थों में है। यथा—सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ से पृथ्वी उत्पन्न हुई, तदनन्दर सूर्य आदि। बाईविल में लिखा है—ईश्वर का आत्मा जलों पर डोलता था। ब्राह्मण ग्रन्थ में लिखा

है, आपः में हिरण्यगर्भ आगे-आगे सरक रहा था। बाईविल में लिखा है— ईश्वर ने जगत् रचकर विश्राम किया। तैत्तिरीय ब्राह्मण का भाव है—प्रजापति, प्रजा रच कर, निवृत्त हुआ, सो गया। ब्राह्मण ग्रन्थों में जो वैज्ञानिक तत्त्व है, उसे यहूदी पूरा नहीं समझ पाए। उन्होंने ये तत्त्व मिश्र से लेकर उन के शब्दों की रक्षा अवश्य की।

२३८. वेद में इलिविश नामक एक अन्तरिक्षस्थ असुर वर्णित है। बाईविल में इसी इबलीस की कथा है। वेद में यह्व शब्द का अर्थ महान् है। बाईविल में यही शब्द जेहोवा बन गया है। मूसा ने दस उपदेश दिए। यथा—मत किसी को जान से मारो, असत्य मत बोलो, ब्रह्मचर्य का नाश मत करो, इत्यादि। ये दश उपदेश मनु के उपदिष्ट यम-नियमों का अनुवाद-मात्र हैं। यहूदियों का सारा आधार इसी पुराने आर्यज्ञान पर है।

२३९. शक—ये लोग कभी क्षत्रिय थे। इनका निवास मध्य एशिया से ईरान और भारत की सीमाओं तक था। अनेक शक भारत में भी आ बसे थे। महाराज सगर ने इन को दण्ड दिया। इनका आर्य-सस्कार न्यून हुआ। कभी शक लोग शुद्ध संस्कृत बोलने वाले थे।

शक लोग रुद्र के उपासक थे। विक्रम से पूर्व इन्हों ने भारत में कई प्रदेश हस्तगत कर लिए थे। भारत के पश्चिम का राज्य संभालने पर इन पर आर्य-संस्कार एक वार पुनः जाग उठा। इन की क्रूरता हटी। ये संस्कृत पढ़ने लग पड़े। राजपूतों की अनेक जातियां इन्हीं की वंशज हैं। भारतीय आर्यों ने इन्हें अपने अन्दर पचा लिया।

अनेक यूनानी लेखक लिखते हैं कि मध्य एशिया की जेहूँ नदी, जिस के पास शक आदि रहते थे, बौद्ध और आर्यों की नदी थी।

पह्लवों की भी यही अवस्था हुई।

२४०. यवन—यवन (यूनानी) लोग भी कभी शुद्ध क्षत्रिय थे। शकों के साथ-साथ ये भी मध्य एशिया से भारत की सीमा तक फैले हुए थे। यह जाति आरम्भ से ही शिल्प शास्त्र और ज्योतिष में बहुत निपुण थी। इन की ग्रीक भाषा संस्कृत का अपभ्रंश-मात्र है। योरोपीय लेखकों ने आनखशिख पर्यन्त यत्न किया कि किसी प्रकार यूनानी भाषा का संस्कृत से अपभ्रंश होना सिद्ध न हो, पर वे कृतकार्य नहीं हुए। यूनानी ने संस्कृत की छाया पर्याप्त सुरक्षित रक्खी। वर्तमान योरोप का सारा ज्ञान यूनान पर आश्रित है। यूनान का ज्ञान मिश्र और यहूदियों पर आश्रित है, और ये दोनों आर्यों के ऋणी हैं।

यूनान के अनेक नगरों के नाम भारतीय नामों के आधार पर रखे गए थे।

इस विषय पर पोकोक ने 'इण्डिया इन ग्रीस, नामक एक अच्छा ग्रन्थ लिखा था। उस ग्रन्थ को उस के देश-वासी बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते थे। उनको यह सत्य अखरता था। यूनान और भारत का सम्बन्ध बहुत पुराना था। सिकन्दर से सैकड़ों वर्ष पहले से यह सम्बन्ध चला आता था। यूनान के विद्वानों पर भारतीय ज्ञानियों का बहुत अधिक प्रभाव था।

यूनानी लोग भारत का चन्दन (सन्दल) बरतते थे। इसे वे सन्तलोम कहते थे।

यूनानी लेखकों का कहना है कि कभी संसार के अनेक स्थानों में विष्णु (हरकुलेस=सुरकुलेश) के मन्दिर थे। वहाँ विष्णु की पूजा होती थी।

विदेशों पर भारतीय संस्कृति का दूसरा आक्रमण

मध्य एशिया

२४१. प्राचीन भारतीय विद्वान् अपना पुराना इतिहास जानते थे। उन्हें ज्ञान था कि कभी संसार आर्य था। उसी भारतीय गौरव के भाव से तथा जीव-दया के भाव से प्रेरित हो कर बुद्ध के प्रचारक दूर-दूर तक पहुँचे। उन्होंने अनेक देशों के लोगों तक भारतीय सन्देश पहुँचाया। संसार का पर्याप्त भाग बौद्ध-ध्वजा के नीचे आ गया। मध्य एशिया में तो बौद्ध-मत ने बहुत प्रभाव उत्पन्न किया। मध्य एशिया की गुफाओं में से लाए गए चित्र-कला के अनेक नमूने देहली के मध्य एशिया की प्राचीन वस्तुओं के अद्भुतालय में रखे हुए हैं। वहीं से अनेक मन्दिरों की दीवारों के टुकड़े भी लाए गए हैं। उन पर की गई चित्रकला उच्च प्रकार की है। अनुमान किया जाता है कि लगभग विक्रम-काल से ले कर दशम शती तक वहाँ भारतीय प्रभाव रहा।

१. खोतान

२४२. खोतान मध्य एशिया का एक प्रसिद्ध स्थान था। इसका प्रारम्भिक इतिहास अशोक से सम्बन्ध रखता है। कहते हैं, उसके एक पुत्र कुस्तन ने इसे बसाया था। यह निश्चित है कि अनेक भारतीय राजा यहाँ राज करते रहे। यहाँ से अनेक मुद्राएँ मिली हैं। उन पर चीनी और खरोष्ठी भाषा में लेख हैं। यहाँ एक प्रसिद्ध बौद्ध-विहार था। इसे गोमती-विहार कहते थे। मध्य एशिया में बौद्ध-संस्कृति का यह सबसे बड़ा स्थान था। अन्य स्तूप और विहार भी यहाँ थे। फाह्यान और ह्यून्साँग इस स्थान में बौद्धों के ऐश्वर्य का वर्णन करते हैं।

खोतान और उस के आस-पास से अनेक हस्तलिखित बौद्ध ग्रन्थ अब भी मिलते हैं। इन ग्रन्थों से प्राचीन इतिहास में बड़ी सहायता मिली है। ये खरोष्ठी

लिपि में हैं। मध्य एशिया के तुर्फान नामक स्थान से अश्वघोष के नाटकों के कुछ टूटे-फूट पत्र प्राप्त हुए हैं। इन में से एक का नाम शारिपुत्र-प्रकरण है।

२. चीन

२४३. महाभारत आदि में चीन और उत्तरवर्ती ग्रन्थों में चीन और महा-चीन का उल्लेख बहुधा मिलता है।

चीनी ग्रन्थों के अनुसार भारत के बौद्ध-मत प्रचारक विक्रम से २०० वर्ष पूर्व चीन में पहुँचे। चीन के लोग बुद्ध की मूर्तियाँ चीन को ले जाते थे। बुद्ध की कीर्ति चीन में फैलने लगी। शक लोग भी चीन को बुद्ध का सन्देश पहुँचा रहे थे। पहली शती विक्रम में चीन में धर्मरक्ष और काश्यप मातङ्ग नामक दो भिक्षु पहुँचे। उन्होंने बौद्ध-शास्त्र के अनेक ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

मध्य एशिया से भिक्षु के पश्चात् भिक्षु चीन जाने लगे। सुग्धी और पारद लोग भी बौद्ध बन चुके थे। हम पहले अल्बेरूनी के प्रमाण से लिख चुके हैं कि खुरासाँ आदि में बौद्ध-मत फैल गया था। ये लोग चीन से सम्पर्क रखते थे। तीसरी शती तक अनेक भारतीय विद्वान् चीन में जाकर बस चुके थे। उनके सतत परिश्रम से अनेक चीनियों ने बौद्ध मत की विशेषता पर लेख भी लिखे। बौद्ध मत कनफूशियस के मत से अच्छा माना जाने लगा।

चीन निवासी भारत को पवित्र भूमि समझने लगे। बोध गया उनके लिए तीर्थ-स्थान बन गया। दूसरी शती में भारत के राजा श्रीगुप्त (गुप्तवंशी) ने बंगाल में २० चीनी भिक्षुओं के लिए एक मन्दिर बनवाया। इस का नाम चीन-विहार हो गया। राजा ने अनेक ग्राम उस मन्दिर के साथ लगा दिये। पंजाब के चिनियोट नगर में कभी चीन के लोग आकर रहते थे। कनिष्क-राज ने यह स्थान उनके निमित्त रखा हुआ था।

जब मध्य एशिया का मार्ग रुका तो चीनी यात्री ब्रह्मदेश (बर्मा) के मार्ग से यहाँ आते थे।

चौथी शती में कुमारजीव नाम का भारतीय विद्वान् चीन में जा बसा। उस ने अनेक बौद्ध ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। छठी शती में परमार्थ चीन में पहुँचा। वह शास्त्र का महान् विद्वान् था। वह अपने साथ अनेक बौद्ध ग्रन्थ चीन को ले गया।

तीन प्रसिद्ध चीनी-यात्री भारत में आए, फाह्यान, ह्यून्त्सांग और इत्सिंग। इनमें से अन्तिम दो संस्कृत के भी विद्वान् बने। इन का उल्लेख आगे होगा।

३. सुवर्ण भूमि अथवा सुवर्ण द्वीप

२४४. भारतीय ग्रन्थों में सुवर्ण भूमि नाम प्रायः मिलता है। कौटल्य के अर्थशास्त्र में सुवर्ण भूमि के अगरु (अगर-तगर) का उल्लेख है। बृहत्कथा के समय भी इस द्वीप का नाम प्रसिद्ध था। इस सुवर्ण द्वीप के अनेक भाग थे। उनमें से कई एक में हिन्दू-राज्य का इतिहास उपलब्ध हो चुका है। उन में से कतिपय का वर्णन आगे किया जाता है।

४. कम्बोज=(कम्बोडिया)

२४५. अति प्राचीन कम्वोज भारत के उत्तर में थे। उनका उल्लेख पहले प्रसङ्गों में हो चुका है। उसी जाति ने पूर्व में जाकर एक देश पर अपना अधिकार कर लिया। उसका नाम भी कम्वोज हुआ। अब उसे कम्बोडिया कहते हैं। कई लेखकों का कहना है कि कम्बु नाम का एक पुरुष आर्य देश से वहाँ गया, और उसने यह देश बसाया। पहली शती में कौण्डिन्य नामक किसी भारतीय ने यहाँ राज्य स्थापित किया।

यह देश पहले फूनान का एक उपजनपद था। पर पीछे से स्वतन्त्र हो गया। वहाँ जयवर्मा आदि हिन्दू राजा राज करते थे। उनके शासन संस्कृत भाषा में मिले हैं। भारतीय प्रयास से संस्कृत पुनः दूर-दूर जा पहुँची थी। कम्बोज में अङ्कोरवाट नाम का एक मन्दिर घने जंगल के अन्दर आज भी खोज लिया गया है। यह कभी ३, ४ क्रोश लम्बा और उतना ही चौड़ा था। सैकड़ों सीढ़ियां चढ़ कर मनुष्य इस के अन्दर प्रवेश करता था। इसमें अद्‌भुत शिल्प-कला दिखाई गई है। यह मन्दिर केवल पत्थरों का है। पत्थरों के परस्पर जोड़ पर कोई मसाला नहीं बरता गया। पत्थर इस क्रम से जोड़े गये हैं, कि आज तक खड़े हैं। वर्तमान काल के बड़े-बड़े वास्तु-कला-विद् इसे देख कर आश्चर्य करते हैं। संस्कृत के प्रचार के कारण यहाँ के नगरों आदि के नाम भी शुद्ध भारतीय प्रकार के थे। यशोधरपुर, भवपुर आदि नाम सुविख्यात हैं। यहाँ कभी शिव की पूजा होती थी।

५. चम्पा

२४६. अन्नम का भारतीय साम्राज्य चम्पा कहाता था। उसकी राजधानी चम्पा नगरी थी। दूसरी शती ईसा में वहाँ श्रीमान् नाम का एक राजा राज्य करता था। चौथी शताब्दी में वहाँ भद्रवर्मा नाम का एक राजा था। चम्पा से जो शासन संस्कृत भाषा के मिले हैं, उनमें इस राजा का उल्लेख है। वह बड़ा विद्वान्, चतुर्वेदवित् था। उसने शिव का एक मन्दिर बनवाया। मन्दिर

का नाम भद्रेश्वर स्वामी था। चम्पा पर चीन और फूनान के राजाओं ने कई आक्रमण किए। चम्पा की शक्ति क्षीण हुई, पर संस्कृत और भारतीय संस्कृति कुछ-कुछ बनी रही।

६. श्री विजय (सुमात्रा)

२४७. सुमात्रा का पुराना नाम वारुषध द्वीप था। यह नाम मञ्जुश्री मूलकल्प में मिलता है। उसका मध्यकाल में प्रयुक्त अपभ्रंश वरोंस था।

चौथी शती से इस देश के भारत से सम्बन्ध का कुछ पता मिलता है। इत्सिंग के अनुसार कभी यह स्थान बौद्ध विद्या का केन्द्र था। चीन से भारत का व्यापार श्रीविजय के मार्ग से पर्याप्त होता था। वहाँ के शासनों में शक सम्वत् का प्रयोग है।

(७. यवद्वीप = जावा)

२४८. यवद्वीप की प्रसिद्धि रामायण काल से है। कम्बोज में हिन्दू राज्य की स्थापना के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। यवद्वीप के पुराने पट्टों में ये सुरक्षित हैं। एक वर्णन के अनुसार जावा उपनिवेश का बनाने वाला महाभारत-युद्ध के समय का था। छठी शती से पहले का इसका इतिहास अज्ञात हो चुका है। जावा से संस्कृत के चार शिलालेख मिले हैं। पूर्णवर्मा नाम का राजा छठी शताब्दी में वहाँ राज करता था। वह अपने पूर्वजों को राजर्षि और राजाधिराज की उपाधियों से स्मरण करता है। जब वहाँ शिलालेखों में संस्कृत भाषा बरती गई थी, तो संस्कृत समझने वाले भी अनेक लोग होंगे।

आर्य लोग जावा में रामायण और महाभारत अपने साथ ले गये थे। उनके थोड़े से भाग अब मुद्रित हुए हैं।

८. बोर्नियो (= वराह उपद्वीप)

२४९. पूर्व-बोर्नियो में हिन्दू राज्य का अस्तित्व संस्कृत भाषा के सात शिलालेखों से प्रमाणित होता है। उनमें राजा कुण्डुङ्ग, उसके पुत्र अश्ववर्मा और अश्ववर्मा के पुत्र मूलवर्मा का उल्लेख है। मूलवर्मा ने बहुसुवर्णक नामक यज्ञ किया था। इस यज्ञ की समाप्ति पर उसने ब्राह्मणों के लिए २०,००० (बीस सहस्र) गौएँ दान कीं। उस दूर देश में तब पर्याप्त ब्राह्मण थे।

ये शिलालेख चौथी शती ईसा के आस-पास के हैं। उसके उत्तर-काल की हिन्दू-देवताओं और बुद्ध की मूर्तियाँ इस देश के अन्दर के भागों से भी मिली

हैं। इससे निश्चय होता है कि कभी वहाँ अनेक मन्दिर और विहार रहे होंगे। भारतीय संस्कृति का पर्याप्त-प्रभाव वहाँ पहुँच गया था।

६. बाली

२५०. जावा के पूर्व में बाली एक प्रसिद्ध द्वीप है। सुमात्रा, जावा और बोर्नियो से यह बहुत छोटा है। छठी शती से इस द्वीप का जो इतिहास मिलता है, उससे ज्ञात होता है कि वहाँ भी हिन्दू और बौद्धमत पहुँच चुके थे। बौद्धमत का ऐश्वर्य तब वहाँ चमकता था। चीनी यात्री इत्सिंग ने वहाँ के लोगों और बौद्ध-भिक्षुओं का अच्छा चित्र खींचा है। आज भी पुराने काल से चले आये कुछ ब्राह्मण-परिवार वहाँ मिलते हैं। हिन्दू मन्दिर भी वहाँ विद्यमान हैं। एक मन्दिर वरुण देव का है। शिव, ब्रह्मा, विष्णु आदि देव-नाम अब भी वहाँ प्रचलित हैं। दुर्गा और सरस्वती नाम भी प्रसिद्ध हैं।

बाली में भी संस्कृत के शिलालेख मिले हैं। इनका काल आठवीं शती से पुराना नहीं। बाली से जो संस्कृत साहित्य अब उपलब्ध हुआ है, उसमें वेद, आगम (शैव), इतिहास, और तन्त्र आदि ग्रन्थों के टुकड़े हैं। गायत्री मन्त्र तथा यज्ञोपवीत पहनने का मन्त्र पुरानी पुस्तकों में मिला है।

इस संक्षिप्त वृत्तान्त से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल के आर्य आचार्य घर में बन्द रहने वाले पुरुष नहीं थे। वे साहसी, दूर-देश-गामी, संस्कृत से प्रेम रखने वाले और इसका सर्वत्र विस्तार करने वाले थे। संस्कृत भाषा, जो इस्लामीकाल में पदच्युत हुई, और जिसकी स्थिति आज भी ठीक नहीं, जिसे अपने घर में ही पूरा स्थान नहीं मिल रहा, कभी सम्पूर्ण सुवर्ण भूमि पर फैली हुई थी।

———

अष्टादश अध्याय

पञ्चतन्त्र—इसका विश्वव्यापी प्रभाव

२५१. भारतवर्ष में अर्थशास्त्र की विद्या भगवान् ब्रह्मा से चल पड़ी थी। अर्थवेद एक उपवेद माना जाता था। ब्रह्मा-रचित त्रिवर्गशास्त्र अति प्रसिद्ध था। उसका एक भाग अर्थशास्त्र विषयक था। उसके संक्षेप विशालाक्ष (शिव), बाहुदन्तीपुत्र (इन्द्र), बृहस्पति, उशना (शुक्र), नारद (पिशुन) और भारद्वाज (द्रोण) आदि के थे। अन्तिम अर्थशास्त्र, जो इन्हीं ग्रन्थों का समाहार था, आचार्य विष्णुगुप्त-कौटिल्य का था।

२५२. इन अर्थशास्त्रों का विषय बहुविध और अति गम्भीर था। उसको स्पष्ट रूप से समझाने के लिए महाभारत आदि ग्रन्थों में यत्र-तत्र कुछ आख्यान कहे गये थे। मौर्य-काल के पश्चात् इस सारी सामग्री को अनायास समझने के लिए विष्णु शर्मा ने एक ग्रन्थरत्न तन्त्र आख्यायिका रचा। वह ग्रन्थ अब मुद्रित हो चुका है। उसके अनेक अवान्तर-रूप पञ्चतन्त्रादि में प्राप्त हैं। यह पञ्चतन्त्र भी पर्याप्त पुराना ग्रन्थ है। इसका साक्ष्य निम्नलिखित स्थानों में मिलता है—

(क) अरबी ग्रन्थकार अल-मासूदी (संवत् ९८७) लिखता है, किसी पञ्चतन्त्र का बनाने वाला दाई-सलेम (देवशर्मा) सिन्धु का राजा था। वह सिकन्दर से लगभग १५० वर्ष पश्चात् अथवा विक्रम से कोई १२० वर्ष पूर्व था। उसने "कलीला व दिम्ना" (कर्टक-दमनक) नामक ग्रन्थ लिखा।

(ख) इस ग्रन्थ का एक अनुवाद पहलवी भाषा में संवत् ६०० के समीप हुआ।

(ग) इस का एक और अनुवाद संवत् ६२७ में सीरिया की भाषा में हो गया।

(घ) इसका अरबी अनुवाद अब्दुल्ला इब्न-अल-मोकफ्फा ने लगभग संवत् ८०७ में किया।

(ङ) ग्यारहवीं शती में एक अनुवाद यूनानी भाषा में हो गया।

(च) लगभग इसी काल में एक अनुवाद इब्रानी भाषा में हुआ।

(छ) इसके पश्चात् तुर्की, स्लाव और अन्य अनेक योरोपीय भाषाओं में इसके अनुवाद होते चले गए।

भारतीय संस्करण

(ज) वसुभाग भट्ट ने पञ्चतन्त्र का एक संस्करण किया।

(झ) इस पर आश्रित लगभग ११वीं शती विक्रम में दाक्षिणात्य दुर्गसिंह ने कन्नड़ भाषा में अनुवाद किया।

(ञ) जैन आचार्य पूर्णभद्र ने विक्रम १२५६ में संस्कृत में पञ्चतन्त्र का एक नया संस्करण किया।

वर्तमान युग में भी पञ्चतन्त्र के अनुवाद संसार की अनेक प्रमुख भाषाओं में हो चुके हैं। राईडर का अंग्रेजी अनुवाद बहुत प्रसिद्ध हुआ है। उसने इस ग्रन्थ की भूरि-प्रशंसा की है। उसका मत है कि—नीति का विषय संसार के वाङ्मय में अन्यत्र नहीं है। पञ्चतन्त्र का संसार पर व्यापक प्रभाव है।

२५३. पञ्चतन्त्र में पाँच शास्त्र हैं। उनके नाम हैं—मित्रभेद, मित्रलाभ, सन्धिविग्रह, लब्ध-प्रणाश और अपरीक्षा कारित्व।

इन विषयों का राजनीतिक महत्त्व बहुत अधिक है। ग्रन्थ रुचिकर, सरल और शीघ्र बुद्धिगम्य है। भाषा प्राञ्जल, सुललित और भावों को स्पष्ट करने वाली है। भारत में आज भी लाखों छात्र इसे पढ़ कर संस्कृत बोलने का अभ्यास करते हैं।

संसार में राजनीति विषयक ऐसा अनुपम ग्रन्थ अन्यत्र नहीं। पशु-पक्षियों की कहानियों द्वारा गहन विषय स्पष्ट किया गया है। ग्रन्थकार का बुद्धि-चातुर्य वस्तुतः अद्वितीय था। इस ग्रन्थ की छाया पर अनेक ग्रन्थकारों ने राजनीति की सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं। फारसी का अन्वारिसुहेली ग्रन्थ जो संवत् १५२० के समीप लिखा गया, इसी प्रकार का है। इस ग्रन्थ द्वारा भारतीय गौरव दूर-दूर तक विस्तृत हुआ और संसार भारतीय संस्कृति का ऋणी बना।

X २५४. शतरञ्ज का खेल—अल-मासूदी के अनुसार पञ्चतन्त्र की रचना (१२०-पूर्व-विक्रम) के ७०-८० वर्ष के पश्चात् सिन्ध में ही शतरञ्ज (=चतुरङ्ग) के खेल का आविष्कार हुआ। शीघ्र ही यह खेल संसार भर में व्यापक हो गया, और आज तक व्यापक बन रहा है। भारतीय सेना का जो चतुरङ्ग विभाग था, उसी की नकल पर यह खेल बना था।

उन्नीसवाँ अध्याय

आन्ध्र और शक-काल

२५५. शुङ्ग और काण्वों के पश्चात् अधिकांश भारत के भाग्य-विधाता आन्ध्र-कुल के राजा थे। इन्हें सातवाहन अथवा शालिवाँहन नाम से भी पुकारते थे। नहीं कह सकते कि इनका मगध से कितना अथवा कब तक सम्बन्ध रहा। पर यह निश्चित है कि इनके ५०-६० वर्ष बीतने पर मगध की महत्ता क्षीण हो चुकी थी।

२५६. प्राकृत-विस्तार—ये राजा प्राकृतों के उपासक थे। प्राकृत भाषा की अनेक चिर-विख्यात कृतियाँ इसी काल की देन हैं। सातवाहन हाल-रचित गाथा-सप्तशती-कोष तभी संकलित हुआ था। इसमें उस काल से पूर्व के कवियों की सूक्तियों का एक अपूर्व संग्रह है। जैन आचार्य पादलिप्त की तरंगवई (तरङ्गवती) कथा इसी काल की शोभा को चार चाँद लगाती है। इसी युग में लीलावती कथा प्राकृत में लिखी गई। उसमें किसी सातवाहन नृपति का वर्णन मिलता है। यही काल था जब महा-विद्वान् गुणाढ्य ने अपनी प्रसिद्ध बृहत्कथा पैशाची प्राकृत में लिखी।

भारत में राजनीतिक निर्बलता

२५७. यही काल था जब भारत के पश्चिमोत्तर भाग पर यूनानी, कुषन्, पह्लव और शकों के आक्रमण होने लगे। पश्चिम को शकों ने संभाल लिया। उत्तर-पश्चिम पर यवनों और कुषनों=तुरुष्कों का साम्राज्य हो गया। मुरुण्ड (शकों की एक जाति) पाटलिपुत्र तक पहुँच गई। शक आदिकों ने पहले अनेक युद्ध किए। गार्गी-संहिता में लिखा है कि शकों ने घोर अत्याचार किए। उत्तर-देशों के सम्पूर्ण युवा आर्य मारे गए। केवल बालक और वृद्ध घरों में दिखाई दे रहे थे। पुरुषों के अभाव के कारण स्त्रियाँ खेती करती थीं। वह भयङ्कर काल था।

प्रचारक-उत्साह से पुनः सांस्कृतिक विजय

२५८. ऐसे काल में ब्राह्मणों का स्वच्छ जीवन, उत्साह और विद्या-प्रभाव चमका। पश्चिम के शक-राजा, जो पहले ही शिव उपासक थे, भारतीय शैव-प्रभाव में आए। रुद्रदामा ने जूनागढ़ की प्रशस्ती संस्कृत में उत्कीर्ण

कराई। वह स्वयं संस्कृत का विद्वान् था। अर्थशास्त्र के अनेक विषयों में प्रवीण था। राजा के संस्कृतज्ञ होने से संस्कृत का मान बढ़ा।

२५६. कनिष्क—बौद्ध-भिक्षुओं की तपस्या भी फल लाई। अभूतपूर्व प्रचार हुआ। उसमें जीवन-ज्योति का आकर्षण था। कुषन अथवा तुरुष्क राजा बौद्ध बन गये। कनिष्क बौद्ध-धर्म का स्तम्भ बना। उसने अनेक विहार बनवाए। बौद्ध वाङ्मय का रक्षण और प्रचार किया। बौद्ध विद्वानों को आश्रय दिया। अश्वघोष और नागार्जुन उसी काल में हुए।

२६०. अश्वघोष – अश्वघोष पहले वैदिक ब्राह्मण था। वह बौद्ध बना। उस ने अत्यन्त प्राञ्जल संस्कृत में दो महान् काव्य ग्रन्थ लिखे। बुद्ध-चरित और सौन्दरनन्द। इन ग्रन्थों में महाभारत में उल्लिखित घटनाओं का बहुत वर्णन है। उसकी वज्रसूची में गीता और मनुस्मृति आदि का संग्रह है। उसने नाटक भी लिखे। बौद्धों के महायान सम्प्रदाय के ग्रन्थ भी उसने संस्कृत में लिखे। तब संस्कृत ने भारत में अपना सिर पुनः ऊँचा किया।

२६१. चीन के ग्रन्थों में उसके काल के विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। कई विद्वान् उसे बुद्ध से ४०० वर्ष पश्चात्, दूसरे ६०० वर्ष पश्चात् अथवा ७०० वर्ष पश्चात् मानते हैं। पर जैसा पहले लिख चुके हैं, चीनी परम्परा में बुद्ध का काल भी पूरा निश्चित नहीं है। अश्वघोष पार्श्व का शिष्य था, और अनेक स्थानों में पार्श्व को कनिष्क का समकालिक कहा गया है, अतः अश्वघोष कनिष्क के काल में हो सकता है।

२६२. नागार्जुन—यह दूसरा बौद्ध-विद्वान् था। नागार्जुन तर्कशास्त्र और रसायन-शास्त्र का विशेष ज्ञाता था। उसने न्याय पर वात्स्यायन भाष्य की आलोचना की। वह विद्वानों की खोज में रहता था। उसने भी संस्कृत-विद्या को प्रोत्साहन दिया। कहते हैं, वह ४०० वर्ष जीता रहा। जीवन के अन्तिम भाग में वह दक्षिण में चला गया। नागार्जुनी-कोण्डा की पहाड़ियाँ उसी के नाम का स्मरण कराती हैं। उसके द्वारा दक्षिण में बौद्ध-मत का बड़ा विस्तार हुआ।

सम्राट् शूद्रक

२६३. आन्ध्रकाल के मध्य के पश्चात् भारत के पश्चिम में एक महान् सम्राट् हुआ। वह ब्राह्मण-कुलोत्पन्न महाबली शूद्रक था। वह एकमात्र असि-सहायक था। उसने शकों और म्लेच्छों से अनेक युद्ध किए। शक परास्त हुए। शकों का महत्त्व न्यून हुआ।

२६४. शूद्रक महान् विद्वान् था। वेदों और बहुविध शास्त्रों में उसकी

अव्याहत गति थी। उसने मृच्छकटिक प्रकरण भास के चारुदत्त के अनुकरण पर लिखा। इस ग्रन्थ में भारतीय जन-साधारण के जीवन का चित्रण है। उस काल की गणिकाएँ थोड़ा सा उच्च भाव भी रखती थीं। इसका आभास वसन्तसेना के चरित्र में मिलता है।

सम्राट् शूद्रक संस्कृत का महान् प्रचारक हुआ। बाण ने कादम्बरी में लिखा है कि वह गोष्ठी-बन्धों का प्रवर्तयिता था। अन्यत्र भी उसे ब्रह्म-सभा का संस्थापक कहा है।

शाकुन्तलकार—कालिदास प्रथम

२६५. यदि भारतीय परम्परा का ऐतिहासिक महत्त्व सत्य सिद्ध हो गया, जिसके लिए अब प्रभूत सामग्री प्राप्त हो रही है, तो निश्चय ही कालिदास नाम के दो महान् ग्रन्थकार पहले हो चुके हैं। नाटक-कार प्रथम कालिदास शूद्रक-विक्रम का समकालिक वा सभ्य था। दूसरा कालिदास हरिषेण रघुकार था। वह साहसाङ्क विक्रम का मन्त्री था। तिब्बत के इतिहासों में नागार्जुन और कालिदास की समकालिकता लिखी है।

शकुन्तला नाटक—अतुल-यश-प्राप्त यह नाटक इस काल की रचना है। इस की कथावस्तु महाभारतान्तर्गत पुराने इतिहास पर आश्रित है, पर घटनाओं के चित्रण में अवश्य ही समकालिक अवस्थाओं का समावेश है। नगर-रक्षकों=आरक्षियों (पोलिस) का वर्णन इसी ढंग का है। महाकवि कालिदास की प्रतिभा और भाषा पर उसके असाधारण अधिकार के कारण इस नाटक में एक सजीवता है। इसका पाठ और इसका प्रेक्षण दोनों चिर-स्थायी प्रभाव उत्पन्न करते हैं। इसकी रुचिरता के कारण अनेक शताब्दियों के आलोचकों ने इसकी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। जर्मन विद्वान् गेटे (Goethe) इस पर मुग्ध हो गया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ओजस्वी शब्दों में इसकी स्तुति गाई। इस ग्रन्थ का प्रभाव संसार भर में हुआ। अनेक भाषाओं में इसके अनुवाद हुए। इसके द्वारा भारतीय संस्कृति का मुख उज्ज्वल हुआ।

२६६. मूलदेव—शूद्रक का समकालिक और मित्र सकल-कला-ज्ञान-विचक्षण कर्णी-सुत धूर्तराज मूलदेव था। उसकी कलाओं का संस्कृत-साहित्य के अनेक ग्रन्थों में वर्णन मिलता है। इस ज्ञान के लिए उसे विदग्ध-चूड़ामणि भी कहते थे।

सिकन्दर का पञ्जाब आक्रमण

२६७. आन्ध्र-काल के अन्तिम दिनों में यूनान-वासी सिकन्दर ने ईरान-विजय के पश्चात् पञ्जाब पर आक्रमण किया। पञ्जाब के प्रथम बड़े युद्ध

में ही उसे भारतीय सेना का बल ज्ञात हो गया। सिकन्दर को आत्म-श्लाघा का रोग था। प्लूटार्क लिखता है कि इसी कारण सिकन्दर ने बहुधा झूठ ही अपनी स्तुति गाई है। उसके ऐतिहासिक भी इसी रोग में ग्रस्त थे।

वास्तविक तथ्य यह है कि पोरस और सिकन्दर के युद्ध में विजय किसी की नहीं हुई। सायं समय दोनों सेनाएँ थक कर अपने-अपने शिविरों में चली गईं। सिकन्दर के अनुनय विनय पर पोरस ने उससे मित्रता करली। कहाँ सिकन्दर महान् और कहाँ पञ्जाब के दो जिलों का राजा। योरोपीय अभिमान को पञ्जाब में नीचा देखना पड़ा। आगे भी पदे-पदे अवरोध हो रहा था। उधर गङ्गा के पास भारत के दो राजा अपने सम्पूर्ण दल-बल सहित उपस्थित थे। सिकन्दर की सेना ने यह समाचार सुना। सब के होश उड़ गये। सिकन्दर ने लौट जाने का संकल्प कर लिया।

२६८. देश-भक्त ब्राह्मण—भारतीय संस्कृति का इतिहास अपूर्ण रहेगा, यदि उस काल के पञ्जाब के ब्राह्मणों का नाम स्मरण न किया जाए। ये ब्राह्मण देशहित की अग्नि से उत्तप्त हो गए। विदेशी भारत में अत्याचार करे, यह उनसे सहा नहीं गया। वे इस दुःख से बचने के लिए कटिबद्ध हुए। ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में प्रचार हुआ कि संगठित हो जाओ। शत्रु का विरोध करो। जिस प्रकार भारत के अभी कल के स्वतन्त्रता-युद्ध (संवत् १९१४) में साधुओं ने देश-भक्ति की ज्वाला जगा कर, भारतीय सैनिकों को सहायता पहुँचाई थी, उससे कहीं बढ़कर उस पूर्व-युग के ब्राह्मणों ने काम किया। ब्राह्मणों ने वीर-क्षत्रियों को सर्वत्र युद्ध के लिए प्रोत्साहित किया। प्लूटार्क लिखता है—

'सिकन्दर ने ऐसे दार्शनिकों को बन्दी कराया और उन्हें फांसी दी।' पर वे ब्राह्मण भयभीत नहीं हुए। उनमें जीवन था। वे स्वार्थी नहीं थे। उन्होंने कर्तव्य को प्रधान मानकर उसकी वेदी में प्राणाहुति देदी।

२६९. सिकन्दर के गुरु की आज्ञा थी कि भारत से कोई विद्वान् ब्राह्मण अपने साथ लाए। सिकन्दर ने सुना कि ब्राह्मण, शब्द को ईश्वर मानते हैं। वस्तुतः ऐसे ब्राह्मण शब्द ब्रह्मवादी थे। सिकन्दर को कहा गया—

"हमारे मध्य में एक सन्त दण्डमिस (Dandamis=दण्डी स्वामी ?) नाम वाला है। उसका घर जङ्गल में है। वहाँ वह पत्तों की शय्या पर लेटा रहता है। वह परम शान्त है। जङ्गल के जल और कन्द-मूल पर उस का निर्वाह है।"

राजा सिकन्दर ऐसे ज्ञानी पुरुष से मिलने के लिए उत्सुक हुआ। उसने

अपने सेनाध्यक्ष ओनिसि-क्रेट को भेजा कि वह दण्डीस्वामी को सिकन्दर के पास ले आए। जब सेनाध्यक्ष स्वामी के पास पहुँचा, तो उसने स्वामी को कहा—

"हे ब्राह्मणों के आचार्य, तुम्हें नमस्कार हो। राजा सिकन्दर जो द्युः-देव का पुत्र है, और जो सब मानवों का अधिपति है, तुम को बुलाता है। यदि तुम इसकी बात मान लोगे, तो वह आपको बड़ी भेंट देगा। पर यदि तुम इन्कार करोगे, तो वह तुम्हारा सिर कटवा देगा।"

दण्डी स्वामी स्मित-पूर्वता से उसे अन्त तक सुनता रहा। पर स्वामी ने अपनी पत्र-शय्या से अपना सिर तक नहीं हिलाया। उसी दशा में उसने यह घृणास्पद उत्तर दिया—

"ईश्वर, राजाओं का अधिराज, कभी पाप का भागी नहीं होता। वह प्रकाश, शान्ति, जीवन, जल, मानव-देह और आत्माओं का जन्म-दाता है। वह दुरिच्छा नहीं करता। वही ईश्वर मेरी आराधना का पात्र है। वही ईश्वर जो हिंसा से परे है और जो युद्धों की प्रेरणा नहीं करता। परन्तु सिकन्दर ईश्वर नहीं है, क्योंकि वह मरणधर्मा है, और तत्सदृश संसार का स्वामी कैसे हो सकता है। वह वैतरणी नदी पार नहीं कर सका और न वह सारे संसार में व्यापक हो सका। जो पदार्थ सिकन्दर मुझे देना चाहता है वे मेरे लिए व्यर्थ हैं। मैं वन के पदार्थों पर निर्वाह करके सुखी हूँ, दूसरे पदार्थों को मैं हेय समझता हूँ। मैं शान्ति चाहता हूँ और आँखें बन्द रखता हुआ किसी बात की परवाह नहीं करता। भूमि मुझे सब कुछ देती है, जैसे माता पुत्र को। यदि सिकन्दर मेरा सिर लेना चाहता है, तो मेरा आत्मा वह नहीं ले सकता। वह गिरा हुआ सिर ले लेगा। आत्मा शरीर को वैसे ही त्याग जाएगा, जैसे पुराने वस्त्र त्यागे जाते हैं। आत्म-रूपी होकर मैं ईश्वर के पास चला जाऊँगा।"

"सिकन्दर उन को धमका सकता है जो धन चाहते हैं, अथवा मृत्यु से भय करते हैं। मैं इन दोनों को त्याज्य मानता हूँ। ब्राह्मण सुवर्ण से प्रेम नहीं करता और मृत्यु से डरता नहीं। सिकन्दर को कह दो, दण्डी स्वामी तुम से कुछ नहीं चाहता, पर यदि तुम उससे कुछ चाहते हो, तो उस के पास जाने से झिझको नहीं।"

आर्य ब्राह्मण के देदीप्यमान होने का यह अनुपम उदाहरण है।

जब सिकन्दर ने दुभाषियें द्वारा ये शब्द सुने, उसके मन में स्वामी से मिलने की उत्कट इच्छा हुई, क्योंकि जिसने कई जातियों को पराजित किया था, उसकी एक वृद्ध नग्न-पुरुष के सामने हार थी। स्वामी टक्कर लेने में सिकन्दर से बहुत बड़ा सिद्ध हुआ।

ईरान आदि देशों का अभिमानी विजेता एक नग्न, वृद्ध ब्राह्मण के सामने अकिञ्चन सिद्ध हुआ। भारतीय संस्कृति के विजय ने इस वृत्त को सुनने वाले यूनानी अध्यक्षों के खून में सनसनी उत्पन्न कर दी।

२७०. पञ्जाब की दो-चार साधारण जातियों से लड़-भिड़ कर सिकन्दर लौट गया। भारत में इस काण्ड का पता भी नहीं लगा। न भारत पर इस घटना का कोई प्रभाव हुआ। वैदिक, जैन और अन्य सब अपनी-अपनी शिक्षा में दत्त-चित्त रहे। आन्ध्र काल बीत गया। विदेशों में भारतीय प्रभाव बढ़ता गया। इसका संक्षिप्त वृत्त पहले एक ही स्थान पर कर दिया है। शक पुनः अपना सिर उठा रहे थे। इस अवस्था में गुप्त साम्राज्य का उदय हुआ।

आन्ध्र काल की वास्तु-कला—आन्ध्र काल ने भारतीय संस्कृति के इतिहास में कुछ विशेष स्मृतियाँ छोड़ी हैं। उस समय वास्तु-कला विशेष उन्नत थी। अजन्ता और नासिक में चट्टानों को काटकर जो चैत्य, विहार अथवा गुफाएँ बनाई गईं थीं, वे आज भी देखने योग्य हैं। चट्टान काटने का काम आश्चर्य-जनक सफाई से किया गया है। कहीं-कहीं स्तम्भ भी खड़े हैं। चैत्य बड़े लम्बे, चौड़े कमरे को कहते हैं। ऐसे चैत्य वास्तु-शिल्प का अच्छा नमूना हैं। इनके साथ विहार अर्थात् भिक्षुओं के रहने के छोटे कमरे भी देखने योग्य हैं। इन पर आन्ध्र-कुल के राजाओं के लेख भी उत्कीर्ण हैं। साञ्ची के तोरण-द्वार इसी काल की स्मृतियाँ हैं।

चित्रकला—अजन्ता में इन गुफाओं के अन्दर दीवारों पर उस युग की सभ्यता को बताने वाले अनेक चित्र उत्कीर्ण हैं। इन में एक सजीवता पाई जाती है। संसार के बड़े-बड़े चित्र-कलाविद इन्हें देख कर भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं।

———

बीसवाँ अध्याय

गुप्त साम्राज्य

वैष्णव अथवा भागवत सम्प्रदाय का दिव्य उदय

२७१. आन्ध्रों के क्षीण हो जाने पर उनके अनेक अध्यक्षों ने स्थान-स्थान पर अपना सिर उभारना आरम्भ किया। इन्हें आन्ध्र-भृत्य भी कहते थे। इन में एक अधिकारी चन्द्रगुप्त था। उसने पाटलिपुत्र में अपनी सत्ता स्थापित कर ली। वह वीर, उत्साही और नीतिवान् था। उसका पुत्र समुद्रगुप्त अथवा समुद्रपाल था।

२७२. समुद्रगुप्त वीरता का अवतार था। उसकी मुद्राओं पर उसे व्याघ्रपराक्रम, अप्रतिरथ, पराक्रमाङ्क आदि विशेषणों से युक्त प्रकट किया है। उसकी एक उपाधि विक्रमाङ्क भी थी। समुद्रगुप्त ने भारत के अधिकांश भाग पर विजय प्राप्त कर एक सुदृढ़ साम्राज्य स्थापित किया। वह अपने आप को परम भागवत अर्थात् वैष्णव लिखता था। उसकी मुद्राओं पर लक्ष्मी की मूर्ति भी पाई जाती है। निश्चय है कि गुप्तकुल के अनेक सम्राट् पक्के वैष्णव और वेदानुयायी थे।

गुप्त राजाओं के नामों के साथ लगे विशेषण महाभारतस्थ विष्णु-सहस्र-नाम की छाया पर हैं।

२७३. समुद्रगुप्त वीर ही नहीं था, कविराज भी था। उसने कृष्णचरित नामक एक सुललित काव्य ग्रन्थ लिखा। वह राजा विदग्ध-मति और गान्धर्व-कला में अति निपुण था। कृष्णचरित के तीन पत्रे मुद्रित हो गये हैं। इन सब गुणों से युक्त होकर उसने अश्वमेध यज्ञ किया।

२७४. अश्वमेध—यह यज्ञ कोई अत्यन्त शक्तिशाली और समृद्ध सम्राट् ही कर सकता है। ये दोनों बातें इस में थीं। उसकी उत्कीर्ण कराई प्रयाग-प्रशस्ति उसके शौर्य का पूरा चित्र खींचती है। उसके अश्वमेध की और दूसरे अवसरों की सुवर्ण-मुद्राएँ, जो आज भी भूमि के अन्दर से मिल रही हैं, इसके काल की अतुलनीय समृद्धि को बताती है।

२७५. हरिषेण कालिदास—इस वीर राजा का प्रधान मन्त्री ब्राह्मण हरिषेण था। हरिषेण उसकी प्रयाग-प्रशस्ति का रचयिता है। इस हरिषेण को उसकी असाधारण विद्या और प्रतिभा के कारण कालिदास कहने लग पड़े

थे। इस विद्वान् पुरुष ने सुविख्यात रघुवंश-काव्य की रचना की। उस ने कुमारसम्भव आदि काव्य लिखे। हिमालय से रासकुमारी तक के संस्कृत-छात्र इन काव्यों को पढ़कर संस्कृत के योग्य विद्वान् बने हैं।

२७६. वसुबन्धु और दिङ्नाग—ये दोनों आचार्य गुरु और शिष्य थे। वसुवन्धु वहुत दिन तक पेशावर के कनिष्क-विहार में रहा। वहीं उसने अभिधर्मकोश-शास्त्र लिखा। दार्शनिक सम्प्रदाय में शिष्य दिन्नाग ने चार चान्द लगाये। गौतमीय न्याय के वात्स्यायन भाष्य पर इसने वज्र-प्रहार किए। नागार्जुन के काल से बौद्ध और वैदिक दार्शनिकों का जो लेखगत शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ, वह दिङ्नाग द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त हुआ।

सम्राट् और मन्त्री की योग्यता के कारण भारत में चारों ओर उन्नति होने लगी। प्रजा की सामाजिक दशा सुधरी। लोग सुख का अन्न-जल खाते पीते थे।

२७७. समुद्रगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र रामगुप्त सिंहासन पर बैठा। रामगुप्त का विवाह शक-राजकुमारी ध्रुवस्वामिनी से हो चुका था। युद्ध करते-करते रामगुप्त उत्तर में आ पहुँचा। वह शकराज द्वारा घेर लिया गया। वहाँ से मुक्ति असम्भव हो गई। शकराज और रामगुप्त की सन्धि हो गई। रामगुप्त ने ध्रुवस्वामिनी को शकराज को दे देना स्वीकार कर लिया।

२७८. पतन की यह पराकाष्ठा थी। कहाँ राम ने सीता को छुड़ाने का स्वप्नातीत कष्ट सहा और कहाँ आर्य-राजा का यह पतित-कर्म।

साहसांक चन्द्रगुप्त

२७९. रामगुप्त का कनिष्ठ भ्राता चन्द्रगुप्त द्वितीय था। वह परले सिरे का साहसी और आत्म-सम्मान रखने वाला था। उसने एक योजना बनाई। भाई और राज-पुरुषों की सम्मति से वह कई सौ वीर योद्धाओं के साथ जो सब स्त्री-वेश में थे, शक-शिविर में प्रविष्ट हो गया। वहाँ उसने शकों को मार डाला। ध्रुवस्वामिनी अपने कायर पति से घृणा करने लगी। समय पाकर चन्द्रगुप्त ने अपने भाई का वध किया और ध्रुवस्वामिनी से विवाह करके भारत का सम्राट् बना। वह व्यक्ति भारतीय इतिहास में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य नाम से प्रसिद्ध है। तिव्बत के ऐतिहासिक सब गुप्तों को विक्रम नाम से पुकारते हैं, और इस काल को विक्रमों का काल कहते हैं।

२८०. साहसांक संस्कृत का बड़ा प्रेमी था। उसके काल में कौन था, जो संस्कृत न बोल सके। उसके अन्तःपुर में भी संस्कृत भाषा का नियम प्रवर्तित हो गया था। बौद्ध, जैन और वैदिक सब उससे प्रसन्न थे।

संवत्-प्रवर्तन

२८१. जैन साहित्य में इस घटना का उल्लेख इस प्रकार मिलता है। वही राजा संवत्-प्रवर्तक हो सकता है, जिसके सम्पूर्ण राज्य में संवत्-प्रवर्तन के दिन एक भी व्यक्ति ऋणी न रहे। विक्रमादित्य ने ऐसा ही प्रबन्ध किया। पृथ्वी अनृण की गई। सारे राज्य में प्रसन्नता का कोई अन्त न रहा था। सुख की वर्षा चारों ओर हो गई। दान की महिमा का विस्तार हुआ। साहित्य और शिल्प-कलाएँ वृद्धि को प्राप्त हुईं। राजधानी उज्जयन में बनी।

सुवर्ण बाहुल्यं—साहसांक विक्रमादित्य के पास रसायन शास्त्री थे। उन्होंने सुवर्ण बना-बना कर राजा के भण्डार भर दिये। उस काल की सुवर्ण मुद्राएँ आज भी भूमि में से कभी-कभी निकलती हैं।

२८२. **सिद्धसेन दिवाकर**—ये जैन आचार्य महाराज विक्रम के काल में थे, राजा इनका बहुत सम्मान करते थे। जैन और वैदिक का भेद नहीं था। महाराज चन्द्रगुप्त ने आचार्य सिद्धसेन सूरि को बहुत धन दिया। सिद्धसेन जैन सम्प्रदाय में पहले आचार्य थे, जिनके मन में यह बात समा गई कि सारा जैन आगम संस्कृत में कर देना चाहिए। दिवाकर जी बहुशास्त्र पारङ्गत थे। उनका रचा सन्मतितर्क (प्राकृत में) न्याय के सूक्ष्म-पक्षों का विचार उपस्थित करता है।

२८३. **भट्टार हरिचन्द्र**—महाराज चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य की सभा में आयुर्वेद शास्त्र के महान् ज्ञाता भट्टार हरिचन्द्र हुए हैं। उन्होंने चरकसंहिता पर एक भाष्य रचा था। इस ग्रन्थ के कुछ पत्रे लाहौर से छपे थे। भट्टार ने खरनाद नामक एक अन्य आयुर्वेद-संहिता का प्रति-संस्कार किया था। आयुर्वेद की विद्या के अन्य अनेक ग्रन्थ भी तब रचे गये।

२८४. **बाल-साहित्य**—महाराज विक्रम-चन्द्रगुप्त के पुरोहित वररुचि थे। ये मुनि वररुचि से भिन्न महापण्डित आचार्य वररुचि थे। राजकुमारों की विनीति इनको सौंपी गई थी। इस निमित्त इन्होंने लगभग ७०-८० बाल-साहित्य के ग्रन्थ रचे। इनमें व्याकरण, काव्य, नाटक, आयुर्वेद, अश्वविद्या, हस्तिविद्या, ज्योतिष, इतिहास और धनुर्वेद आदि के ग्रन्थ थे। इनमें से अनेक ग्रन्थ अब भी उपलब्ध हैं। वररुचि ने निरुक्त-समुच्चय ग्रन्थ भी लिखा।

२८५. **भर्तृहरि**—प्रसिद्ध वैयाकरण भर्तृहरि इसी काल में हुआ। सैकड़ों वर्षों से विस्मृतप्राय महाभाष्य के अध्ययन-अध्यापन को इसने पुनर्जीवित

किया। वेद का प्रामाण्य क्यों किया जाता है, अपभ्रंश भाषाएँ कैसे अस्तित्व में आईं, इत्यादि विषयों पर इस ने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ वाक्यपदीय लिखा। इसका ग्रंथ इतना प्रभावोत्पादक था कि दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध और मल्लवादी सूरि आदि जैन विद्वानों को इसके खण्डन पर ग्रंथ लिखने पड़े। भर्तृहरि का विद्वानों पर प्रभाव था।

२८६. सहिष्णुता—गुप्तों के शासन की श्रेष्ठता के कारण संस्कृति का स्तर बहुत ऊँचा उठा। वैदिक, जैन और बौद्ध सब एक दूसरे का आदर करते थे। उनका विचार-विमर्श सभाओं में होता था। ह्यून्तसांग ने ऐसी एक सभा का वृत्तान्त सुरक्षित किया है। तदनुसार विक्रमादित्य के काल में बौद्ध और अबौद्ध में एक शास्त्रार्थ हुआ। बौद्धों की ओर से वक्ता मनोरथ (वसुबन्धु का गुरु) था। मनोरथ परास्त हुआ। उसने यह वृत्त अपने शिष्य वसुबन्धु को लिख भेजा। इतने में मनोरथ कालधर्म को प्राप्त हो गया। वसुबन्धु ने पूरी तैयारी की और विपक्षियों को विचार-निमन्त्रण के अवसर देने का प्रयत्न किया।

इस वृत्त से यह निश्चय होता है कि विभिन्न मतों के विद्वान् ग्रन्थों में खण्डन के अतिरिक्त मौखिक शास्त्रार्थ भी करते थे। तब हठधर्मिता अवश्य न्यून होगी।

२८७. मन्दिर—गुप्त काल में वास्तुकला को विशेष प्रोत्साहन मिला। तत्कालीन लेखों में मन्दिरों और भव्य नगरों का वर्णन है। इस काल के मन्दिरों में गर्भगृह के ऊपर शिखर का निर्माण हो चुका था। शिखर के साथ का शेष ऊपरी भाग समतल ही रखा जाता था। गर्भगृह के सम्मुख मण्डप बनाया जाता था। गुप्तकालीन सांची और एरण के मन्दिर वर्णनीय हैं। एरण का मन्दिर विष्णु का था। देवगढ (झांसी) का दशावतार मन्दिर और भीतर गाँव (कानपुर) का ईटों का बना हुआ मन्दिर भी प्रमुख उदाहरण हैं। इन्हीं मन्दिरों की कला को आधारभूत मानकर आने वाली शताब्दियों में मन्दिर बनाए गए थे। उत्तर भारत में मन्दिर की कला का विशेष प्रतीक शिखर हो गया।

२८८. पथ सुरक्षित—गुप्तकाल में न केवल नगर और ग्रामों के अन्दर के मार्ग सुरक्षित थे, प्रत्युत घने, निर्जन जंगलों के मार्ग भी पूरे सुरक्षित थे, चोर, डाकू का भय किञ्चित्मात्र न था। इसके दो कारण थे। प्रथम था प्रजा

का अति सुखी और धन-धान्य से पूर्ण होना, और दूसरा था दण्ड का साव-धानता से प्रयोग।

२८९. **वैष्णव धर्म और भोजन**—आज आप किसी भारतीय वैष्णव भोजनालय पर जाएँ, आप को आमिष भोजन का नाम भी न मिलेगा। अण्डा, मछली, मुर्गी और मांस का वहां गन्ध नहीं होगा। इस वैष्णव नाम से ही प्रकट है कि वह भोजनालय निरामिष स्थान है। हम लिख चुके हैं कि गुप्त राजा परम भागवत थे। अतः उनका राज्य मांस के विक्रय से प्रायः रहित था। केवल चाण्डाल आदि लोग मांस खाते थे। भारत भूमि कृतयुग का दृश्य दिखाती थी।

———

इक्कीसवाँ अध्याय

तर्क-संघर्ष का उत्कर्ष

२९०. गत अध्याय में लिखा गया है कि वैदिक, बौद्ध और जैन विद्वान् परस्पर लिखित अथवा मौखिक शास्त्रार्थ करते थे। उस शास्त्रार्थ पद्धति की अब चरम-सीमा आ गई। भारत में दिन्नाग, उद्योतकर, कुमारिल, धर्मकीर्ति और शंकर एक के पश्चात् दूसरा प्रखर-बुद्धि के विद्वान् उत्पन्न हुए। इन में से प्रत्येक अद्वितीय प्रतिभा का अधिपति था। इन में से दिन्नाग का वर्णन पहले हो चुका है।

२९१. उद्योतकर शैव मतस्थ पाशुपताचार्य था। वह संस्कृत का पण्डित, बौद्ध और जैन शास्त्र का पारग और गौतमीय न्याय का विशेषज्ञ था। वह लिखित शास्त्रार्थ के क्षेत्र में उतरा। उसने तर्क-संघर्ष को परले सिरे तक पहुँचाया। उसके ग्रन्थ न्याय-वार्तिक का श्रीगणेश जिस अभिमान-पूर्ण प्रतिज्ञा से होता है, वह द्रष्टव्य है—

मुनियों में प्रवर अक्षपाद ने जगत् के कल्याण के लिए, जिस शास्त्र का उपदेश किया, उसे (दिन्नाग आदि बौद्ध) कुतार्किकों ने कलुषित किया। उन कुतार्किकों के अज्ञान की निवृत्ति के लिए मैं ने यह प्रबन्ध रचा है। इति।

ग्रन्थ को पढ़ कर पता लगता है कि उद्योतकर की प्रतिज्ञा मिथ्या अभिमान नहीं था। जिस योग्यता से उसने पदे-पदे तर्क किए हैं, वे मानव-बुद्धि का विशेष चमत्कार हैं। जो बौद्ध-मत शतियों तक राजाश्रय पा रहा था, जिस ने सैकड़ों उच्च जीवन के तपस्वी उत्पन्न किए, जिन के चैत्य और विहार भारत भर में फैल रहे थे, उस मत के उन्मूलन का बीजारोपण पाशुपताचार्य ने बड़े साहस से किया।

२९२. भारत में सांस्कृतिक घटनाचक्र उद्योतकर पर ही समाप्त नहीं हुआ। उस काल में अदम्य उत्साह की पताका उठाने वाला एक दूसरा वैदिक वीर भी सज्जित हो रहा था।

२९३. कुमारिल—भट्ट कुमारिल वैदिक-परम्परा की विद्याएँ पढ़ रहा था। जब तक वह इन विद्याओं को समाप्त करे, वह कृत-संकल्प हो गया कि वह बौद्ध मत का खण्डन करेगा। खंडन के लिए बौद्ध-शास्त्र का पारग होना आवश्यक था। कुमारिल गुप्त-भेष में बौद्ध-पाठशाला में प्रविष्ट हो गया।

कुछ ही वर्ष में उसकी मनःकामना पूर्ण हुई। वह घर लौटा। उसने मीमांसा शास्त्र पर वार्तिक लिखा। उद्योत्कर न्याय पर अपना वार्तिक लिख चुका था। कुमारिल का वार्तिक भी विद्वानों को सुलभ हुआ। बौद्धमत पर दो दिशाओं से आक्रमण हुआ। आक्रमण-कर्ता मंझे हुए सेनापति थे। दाएँ, बाएँ, आगे, पीछे, ऊपर, नीचे विरोधी पक्ष के सब छिद्रों पर, सब मर्म-स्थलों पर आक्रमण हुआ। कुमारिल की भाषा, उसकी वाक्य-रचना, उसकी प्रतिज्ञाएँ, हेतु, तथा पर-पक्षी के ग्रन्थों के उद्धरण सब सुव्यवस्थित हैं।

कुमारिल का जीवन बहुत ऊँचा था। वह भारतीय ब्राह्मणत्व का पका हुआ फल था। उसने सोचा कि बौद्ध शास्त्र का अध्ययन करने के लिए उसने बौद्ध-भेष धारण करके अपने बौद्ध गुरुओं को धोखा दिया है। इसका प्रायश्चित्त अग्नि-प्रवेश है। उसका आत्मा बलवान् था। जब उसने बौद्धमत का खण्डन कर लिया, जब उसका ग्रन्थ-लेखन समाप्त हो गया, तो उसने तुषाअग्नि जलाई। उस अग्नि में शान्तिपूर्वक उसने अपना दाह कर लिया। उसका धैर्य अतुलनीय था। भारतीय मर्यादा की रक्षा में वह शिरोमणि सिद्ध हुआ। संसार में ऐसा महापुरुष विरला ही जन्मता है।

तिब्बत के ग्रंथों के अनुसार कुमारिल गुप्त-काल में हुआ था।

२९४. उद्योतकर और कुमारिल की चोट साधारण नहीं थी। वह बुद्धि-संघर्ष अपूर्व था। संसार के इतिहास में इस ढंग की टक्कर अन्यत्र दिखाई नहीं देती। बौद्ध-मत का दुर्ग हिला। वह जर्जरित हो गया। बौद्ध घबरा उठे। चारों ओर उत्तर-दाता की खोज होने लगी। अन्त को ऐसा उत्तर-दाता उन्हें मिला।

२९५. धर्मकीर्ति—वह उत्तर-दाता भदन्त धर्म-कीर्ति था। अपने प्रतिपक्षियों के समान वह विद्या से पूरा सुसज्जित था। प्रतिभा उसकी चमत्कारिणी, अध्ययन विस्तृत और साधिकार था। उसने प्रमाण-वार्तिक लिखा। यह ग्रन्थ उस युग का तीसरा महान् वार्तिक ग्रन्थ था। यह ग्रंथ भी सूक्ष्म तर्कों से भरा पड़ा है।

धर्मकीर्ति ने अनेक शिष्य पढ़ाये, पर अति योग्य शिष्य उसे नहीं मिला। वह उदास हो गया। उसने समझ लिया कि उसके ग्रंथों को समझने वाले विद्वान् अब पैदा नहीं होंगे।

धर्मकीर्ति का यत्न भगीरथ था। पर उद्योतकर और कुमारिल का दिया धक्का मन्द नहीं पड़ा। दूर-दक्षिण में आचार्य शङ्कर भी इस क्षेत्र में उतर रहा था।

२९६. शंकर—तर्क का भण्डार शङ्कर, बाल्यकाल से वैराग्यवान् था। उसकी रुचि प्रवृत्ति-मार्ग में नहीं हुई। विद्या-समाप्ति के अनन्तर उसने संन्यास ग्रहण किया। शङ्कर विद्वान् ही नहीं था, वह आन्दोलन खड़े करने की सामर्थ्य भी रखता था। शब्द-प्रमाण का प्रतिपादन करने में वह उद्योतकर और कुमारिल से पीछे नहीं रहा। वेद सम्पूर्ण ज्ञान का स्रोत है, यह विश्वास उसके रोम-रोम से टपकता था।

शङ्कर ने संन्यासियों के मार्ग का पालन करने के लिए भारत-भ्रमण आरम्भ किया। उसने भारत के दिग्गज वैदिक विद्वानों को अपना शिष्य बनाया। शङ्कर को पता लगा कि नर्मदा-तट पर माहिष्मती पुरी में कुमारिल का शिष्य मण्डन-मिश्र निवास रखता है। वह विद्या में कुमारिल-सदृश है। उससे मिलने के लिए शङ्कर इस नगर में आया। प्रातःकाल नगर में प्रवेश करते हुए नर्मदा से पानी लाती हुई पनिहारिनों से शङ्कर ने मण्डन के घर का पता पूछा। उत्तर मिला, अमुक दिशा में जाकर उस घर को देखो जहाँ कोइलें स्वतःप्रमाण (वेद स्वतः प्रमाण है) और परतःप्रमाण (अन्य शास्त्र वेद के अनुकूल होने से प्रमाणित हैं) का गीत गाती हैं। इति।

मण्डन शङ्कर का शिष्य हो गया। एक दूसरा विद्वान् पद्मपाद भी उनका शिष्य बना। ये लोग एक मण्डली में पर्यटन करते थे। जहाँ कोई विरोधी विद्वान् देखा, वहीं इन्होंने शास्त्रार्थ की भेरी ताडित की। भला इनकी विद्या के सामने कौन ठहर सकता था। शङ्कर ने लाखों बौद्ध और जैनों को पुनः वैदिक-मर्यादा की दीक्षा दी। लिखा है कि सैकड़ों संतप्त हृदय वेद-मार्ग में लौटने के लिए उत्सुक थे। शङ्कर उच्च स्वर में शंख-नाद करता था। जहाँ-जहाँ तक शंख-ध्वनि पहुँचती थी, लोग शुद्ध समझे जाते थे। भारत-भूमि शङ्कर के प्रचार से प्लावित हो गई। उद्योगी संन्यासी ने भारत के चार कोनों में चार मठ बना दिये। उत्तर में कश्मीर में, पश्चिम में द्वारका में, पूर्व में गोवर्धन और दक्षिण में शृङ्गेरी में। इन मठों के सेवक संन्यासियों ने वैदिक धर्म का प्रचार आरम्भ किया। बौद्ध-मत निर्बल होता गया।

२९७. भाष्य त्रयी—शङ्कर ने तीन महान् भाष्य रचे। उपनिषद् भाष्य, गीता भाष्य, और वेदान्तसूत्र भाष्य। इन्हें प्रस्थान-त्रयी भी कहते हैं। शङ्कर की संस्कृत सुललित, प्रभाव-शालिनी और भाव-व्यञ्जका है। जब शङ्कर पूर्व-पक्ष का प्रतिपादन करता है, तब ऐसा प्रतीत होता है, मानो, लेखक उत्तर देने में, खण्डन करने में असमर्थ होगा। पर जब वह प्रत्याख्यान के सोपान की एक-एक सीढ़ी चढ़कर ऊपर जा रहा होता है, तो पाठक आश्चर्य करता है, अवाक्

हो जाता है, और शङ्कर की योग्यता के सामने नत-मस्तक हो जाता है।

शङ्कर का मत वेदान्त मत था। यह अति प्राचीन पञ्चशिख आदि के वेदान्त से कुछ भिन्न था। शङ्कर के काल से, "अहं ब्रह्म" और "जगत् झूठी माया है" की जो विचार-सरिता प्रवाहित हुई, उसका दृश्य हमने स्वयं अपने जन्म-स्थान अमृतसर में दरबार-साहिब के आस-पास के उद्यानों में बैठे साधु-सन्तों और नारियों के मुख से निकले शब्दों में देखा है।

भारतीय संस्कृति के इतिहास में शङ्कर स्थान-विशेष रखता है।

२९८. मल्लवादी सूरि—(संवत् ३७५ विक्रम) जैन लोगों के विषय में हम ने कुछ नहीं लिखा। जब वैदिक और बौद्ध-तर्क के बाण चल रहे थे, तब जैन विद्वान् सोए नहीं पड़े थे। पश्चिम भारत में वल्लभी की राजधानी विद्या का एक विख्यात केन्द्र थी। यहाँ जैन, बौद्ध और वैदिक सभी धर्मों के विद्या-गुरु रहते थे। मल्लवादी सूरि का वल्लभी से पर्याप्त सम्बन्ध रहा। ये महात्मा न्याय-शास्त्र के प्रवीण पण्डित थे। इन्होंने द्वादशार-नयचक्र नाम का एक ग्रन्थ-रत्न लिखा। यह ग्रंथ सम्प्रति मुद्रित हो रहा है। इसमें सांख्य, वैशेषिक, गौतमीय-न्याय, मीमांसा, भर्तृहरि, वसुबन्धु और दिग्नाग आदि के मतों की सूक्ष्म-परीक्षा वर्तमान है। इससे प्रमाणित होता है कि जैन-प्रतिभा का क्षेत्र भी संकुचित नहीं था।

जैन लोग जीव-हिंसा के महाविरोधी थे। उन्होंने आयुर्वेद के ऐसे ग्रन्थ बनाए, जिनमें मांस-भोजन का पचड़ा समाप्त किया गया। ये ग्रंथ चरक आदि शास्त्रों पर आश्रित थे, पर हिंसा-युक्त विधियों से रहित थे।

पूज्यपाद जिनेन्द्र बुद्धि ने एक व्याकरण ग्रन्थ इन्हीं दिनों रचा था। पूज्य-पाद ने पाणिनीय शास्त्र पर एक न्यास भी बनाया।

जैन विद्वान् प्रतिभा का चमत्कार अनेक विषयों में दिखा रहे थे।

२९९. सभा, प्रपा तथा अनाथ-पालन आदि—स्वायंभुव मनु और बृहस्पति आदि का उपदेश था कि—सभा (चैत्य, जंज-घर आदि), प्याऊ, देवालय अथवा अग्निहोत्र के स्थान, तड़ाक्, उद्यान वा आराम, तथा टूटे-फूटे मन्दिरों का पुनः निर्माण वा संस्कार, तथा अनाथ और दरिद्रों को वस्त्र-दान देना, और उनके भोजन का स्थिर प्रबन्ध करना, प्रत्येक नगर और ग्राम के समर्थ-पुरुषों का कर्तव्य है। जो धनवान ऐसे विषय में प्रति-वाद करे, अर्थात् इसके करने से इन्कार करे, राजा उसका सर्वस्व छीन ले और उसे नगर आदि से निर्वासित कर दे। इति।

३००. अति पुरातन दिनों में इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती थी। गुप्त-काल तक भी यह स्थिति विद्यमान थी। उसके पश्चात् भी इन भावों का ह्रास नहीं हुआ था। फाहियान लिखता है—दया का भाव पाटलिपुत्र के वासियों में बहुत अधिक था। धनी लोग प्रजा के साधारण जनों के लिए दान-घर और आरोग्य-शालाएँ बनवाते थे। विधवाएँ, अंगहीन और अनाथ दान-घरों में रहते थे और रोगी आरोग्य-शालाओं में स्थान प्राप्त करते थे। दाइयां और भिषक्-क्रिया-प्रवीण लोग प्रेम से रोगियों की सेवा करते थे। यहाँ भोजन और औषध विना पैसा दिए मिलता था।

यह प्रथा थोड़ी सी अभी तक चल रही है। भारतीय संस्कृति के अनुसार साधु-पुरुष ही धन रख सकते थे। असाधु, पापी, धर्महीन, स्वार्थी, दया-धर्म-रहित पुरुषों से धन छीन लेने वाले की प्रशंसा है। यह राजा का कर्तव्य था कि वह धन के विषय की ऐसी विषमता कहीं उत्पन्न न होने दे। अतः लोग स्वयं धर्म की रुचि रखते थे। पुराने ताम्रशासनों से अनेक ऐसे दानों का ज्ञान होता है, जो समृद्ध पुरुषों ने आरोग्य-शालाओं (=हस्पतालों) के लिए दिए।

३०१. चित्र-कला—अन्य विद्याओं के समान चित्र-कला की विद्या भी अति प्राचीन-काल से भारत में प्रचलित थी। इसका पता शिल्प-ग्रन्थों से लगता है। विष्णु-धर्मोत्तर नाम का एक बृहद् ग्रन्थ है। अनेक विद्वान् इसे एक उप-पुराण मानते हैं। और इसका समय गुप्त-काल के अन्दर मानते हैं। इसमें वास्तुकला, आयुर्वेद आदि अनेक विषय संकलित हैं। चित्रकला पर भी एक पूरा अध्याय इसमें मिलता है। उसमें इस कला के चार भेद कहे गए हैं—सत्य, वैणिक, नागर और मिश्र, अर्थात्—वास्तविक, वीणा के साथ, सौराष्ट्र के नगर नामक पुर का प्रकार और सब अंगों में मिश्रित। अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक में कालिदास वर्णित चित्रकला का उल्लेख पहले हो चुका है।

चित्रकला के अंगों का विष्णु धर्मोत्तर में बड़ा विशद वर्णन है। चित्रकला और नृत्य-कला की अनेक परिभाषाएँ सादृश्य रखती हैं। मन्दिरों, राजप्रासादों और घरों में भिन्न-भिन्न प्रकार के चित्रों के लटकाए जाने का विधान है। मन्दिरों के चित्र धार्मिक भावनाओं के जगाने वाले होने चाहिएँ और दूसरे चित्र सौन्दर्य के व्यञ्जक। घरों की दीवारों पर चित्र-कला के विशेष नमूने दिखाये जाते थे।

राज-प्रासादों में चित्र-शालाएँ रहती थीं। उनमें प्राचीन राजाओं के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं के चित्र रहते थे।

कुम्हार अपने वर्तनों पर पक्के रंग करने में निपुण थे। ये रंग समय-समय पर बदलते रहे हैं। इस परिवर्तन से ऐतिहासिक काल-क्रम बनाया गया है। इसी से प्राचीन और क्रमशः उत्तर-काल के मिट्टी के वर्तन सर्वथा पहचान लिए जाते हैं।

मिट्टी की शतशः मुद्राएँ गुप्त-काल के लोगों की वेश-भूषा और मनोवृत्ति का परिचय देती हैं।

३०२. उस काल के नाटकों में विशाखदत्त के मुद्रा-राक्षस और देवी-चन्द्रगुप्त का वर्णन यहाँ आवश्यक है। मुद्राराक्षस (मन्त्री राक्षस की अँगूठी) एक विलक्षण नाटक है। इसमें राजनीति के गहरे तत्त्वों का समावेश है। चाणक्य के नीतिक-प्रहारों से युक्त यह नाटक सात अङ्कों में समाप्त हुआ है। इसमें स्त्री-पात्रों का अभाव है। एक स्थान पर स्त्री-पात्र की रचना है, पर अत्यन्त गौण-रूप में। इतने बड़े नाटक में यह अभाव अखरता नहीं। दर्शक की रुचि सर्वथा वनी रहती है। इसी नाटक में राजकीय गुप्तचरों का वर्णन बहुधा मिलता है।

दूसरा नाटक देवी-चन्द्रगुप्त था। इसके अभी तक कुछ अंश ही उपलब्ध हुए हैं। इसकी कथावस्तु चन्द्रगुप्त साहसाङ्क के उस कृत्य पर है, जिसके द्वारा वह शकराज को मारकर ध्रुवदेवी को ले आया। भारतीय इतिहास के निर्माण में यह नाटक बहुत उपादेय सिद्ध हुआ है।

———

बाईसवाँ अध्याय

गुप्तों के पश्चात् हर्षवर्धन तक

३०३. काल-चक्र अपने वेग में कभी धीमा नहीं पड़ता। भारत-भूमि के रङ्ग-मञ्च पर अनेक पात्र अपनी कला दिखाकर चलते बने। भारतीय संस्कृति का दूसरा सुवर्ण-युग चला गया। अब देश का राज्य पुनः खण्ड-खण्ड हो गया। अनेक वंशों ने अपना सिर उठाया। हूणों के नृशंस कृत्य भी हुए। हूण लोग शकों के समान कभी शुद्ध आर्य थे। पर चिरकाल से सभ्यता से परे रहने के कारण उनमें बर्बरता बहुत आ चुकी थी। वे अनेक बार आगे बढ़ने का यत्न कर चुके थे। वे असफल रहे। पर अब वे कुछ काल के लिए उत्तर-पश्चिम भारत पर अपना शासन स्थिर करने में सफल हुए। यह अवस्था देर तक न रही। उनको यशोधर्मा ने परास्त किया।

ऐसी परिस्थितियों में भी संस्कृति के काम होते रहे।

३०४. आर्य भट—संवत् ५५० के समीप कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) में आर्यभट ने अपना ग्रन्थ आर्यभटीय लिखा। उसके ग्रन्थ का आधार सूर्य-सिद्धान्त था। उसने भारतीय गणना-प्रकार में एक विशेषता उत्पन्न की। पहले यदि ३२२ लिखना हो तो ३००-२०-२ ऐसे लिखा जाता था। अनेक ताम्र-शासनों पर ऐसे लेख मिलते हैं। उसने वह प्रकार निकाला, जो अब सारे संसार में प्रचलित है। उसने अपने ग्रंथ को संक्षिप्त पर अति स्पष्ट बनाया। उसने गणित और ज्योतिष का सम्बन्ध स्पष्ट किया। उसने भूमि-भ्रमण का विशद वर्णन किया। सूर्य-चन्द्र ग्रहण के विषय में उसने स्पष्ट लिखा है कि भूमि की छाया के कारण ग्रहण लगते हैं।

३०५. वराहमिहिर—दूसरा महान् ज्योतिषी वराहमिहिर था। उसने पाँच पुराने ज्योतिष सिद्धान्तों का संग्रह करके पञ्चसिद्धान्तिका ग्रंथ लिखा। इसमें प्राचीन गणित और ग्रहणों का वर्णन है। वराह का विशेष प्रयास उसकी बृहत्-संहिता में दिखाई देता है। यह संहिता कश्यप, पराशर, देवल आदि की रचिता पुरातन संहिताओं का संग्रह है। इसमें जल-विद्या, वास्तु-विद्या, अश्वविद्या, छन्द शास्त्र, वर्षाःविद्या और मूर्तिकला आदि अनेक विद्याओं का सरल और संक्षिप्त शब्दों में व्याख्यान है।

मूर्तिकला-प्रकरण में देवमूर्तियाँ बनाने की अनेक विधियाँ, तथा मूर्तियों में शरीराङ्गों की लम्बाई-चौड़ाई और मोटाई का पूरा वर्णन है। देवों के वाहनों का स्पष्ट उल्लेख है।

मन्दिर और देवगृह ऐसी मूर्तियों से सजाए जाते थे।

भूगोल—बृहत्संहिता में भारतीय भूगोल का परिचय कराया गया है। उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम और अवान्तर दिशाओं में कितने देश हैं, उनमें कौन-सी जातियाँ बसती हैं, यह सब वृत्त इसमें प्राप्त हैं। इतिहास-लेखकों को इस ग्रन्थ से बड़ी सहायता मिलती है। रामायण, महाभारत और पुराणों में ऐसे वर्णन हैं, पर वे अति प्राचीन काल-विषयक हैं। बृहत्संहिता का वर्णन विक्रम के आस-पास की भौगोलिक-स्थिति का स्पष्ट-चित्र उपस्थित करता है।

फलित-ज्योतिष का इस वर्णन से बहुत सम्बन्ध है। किन देशों पर ग्रहों का कैसा प्रभाव हो सकता है, यह विषय इसी वर्णन से पूरा समझ आता है। इस काल से भारतीय-प्रजा पर, चाहे वह वैदिक, बौद्ध, जैन, शक, हूण, यवन, पह्लव आदि कैसी ही हो, फलित-ज्योतिष का प्रभाव बढ़ता ही गया।

३०६. महायान सम्प्रदाय के विद्वानों में धारणी वा मन्त्र-विद्या बहुत प्रचलित हुई। तन्त्रों का प्रचार बढ़ा। मन्त्रों द्वारा अनेक प्रभाव उत्पन्न करने का भूत लोगों पर सवार हुआ। ऐसा विश्वास हो गया कि यदि किसी मन्त्र का जप किया जाए, तो दुःख-निवृत्ति हो जाती है। नाग, यक्ष, राक्षसों से रक्षा करने के लिए भी मन्त्र जपे जाते थे। इसी विधि से अकाल-मृत्यु का निवारण किया जाता था। ये मन्त्र तावीज़ों में बन्द किये जाने लगे। मन्त्रों में अविलोकितेश्वर का आवाहन किया जाता था।

यह तन्त्र-विद्या उत्तर-काल में हिन्दुओं में भी अपना घर कर गई। अनेक शावर मन्त्र बने और उनके जप होने लगे।

३०७. ललित-विस्तर नामक बौद्ध ग्रन्थ में भारत में प्रचलित बुद्ध के काल की अनेक लिपियों के नाम लिखे हैं। उनमें जो ब्राह्मी लिपि लिखी है, वही सैकड़ों वर्ष के अंतर में बदलती चली गई। वर्णों के आकारों में परिवर्तन हुआ। गुप्त-काल में उसका एक विशेष-रूप हो गया।

३०८. गुप्त-लिपि—गुप्त-काल और उसके दो सौ वर्ष पश्चात् तक भारत में देव-नागरी वर्णमाला का जो पूर्व-रूप प्रचलित था, उसे गुप्त-लिपि कहते हैं। इस लिपि में लिखे गये ताम्रशासन और शिलालेख भारत के अनेक भागों में मिलते हैं। यही नहीं, दैवयोग से ताड़-पत्रों पर इस लिपि में लिखे अनेक ग्रंथ

भी गिलगित के देश से मिले हैं। काश्मीर के उत्तर में यह प्रदेश कभी भारतीय संस्कृति का अच्छा केन्द्र था। वहां के जल-वायु में ताड़-पत्र भुरभुरा अथवा तरेड़-युक्त नहीं होता था। वहाँ उष्णता की अधिकता नहीं थी। इन ग्रन्थों के सुन्दर अक्षर गुप्त-लिपि के दूर-दूर तक विस्तार का पता देते हैं। अनेक बौद्ध-शास्त्र जो भारत से लुप्त हो गये थे, इस लिपि में वहाँ से प्राप्त हो गये हैं।

३०६. **स्त्रियों की स्थिति**—अब स्त्रियाँ उतनी स्वतन्त्र नहीं थीं, जितनी वेद-काल में। महाभारत-काल की भी दशा अब न थी। साधारण स्त्रियों की साक्षरता बहुत थोड़ी थी। राज-घरों और धनी-घरों में देवियाँ कुछ पढ़-लिख लेती थीं। कहीं-कहीं स्त्रियों की काव्य-रचना का भी संकेत मिलता है। विवाह माता-पिता के अधीन था। पर जब माता-पिता यह न कर सकें, तो षोडशवर्षीया कन्या अपना पति स्वयं चुन सकती थी। सती की प्रथा कुछ-कुछ प्रचलित थी। पति के नष्ट (दूर-देश में गुम) होने, मरने, परिव्राजक होने, आदि की अवस्था में पुनर्विवाह की मान्यता थी। प्रायः स्त्रियाँ श्रेष्ठवसन और भूषण आदिकों से अलङ्कृता रहती थीं।

महाराजाधिराज प्रभाकरवर्धन=प्रतापशील

३१०. उत्तर भारत के प्रतापी महाराज हर्षवर्धन के पिता का नाम प्रभाकरवर्धन था। प्रभाकरवर्धन श्रीकण्ठ देश के स्थाण्वीश्वर (=थानेसर) नामक नगर में राज करता था। हर्षवर्धन के ताम्रशासनों में प्रभाकर के विषय में एक विशेष-सूचना उपलब्ध होती है। प्रभाकर वर्णाश्रम-धर्म का पुनः संस्थापक था। उसके काल में आचार्य विश्वरूप ने याज्ञवल्क्य स्मृति पर बालक्रीड़ा टीका लिखी। बहुत सम्भव है कि विश्वरूप ने यह ग्रन्थ प्रतापशील की आज्ञा से लिखा हो। वर्णाश्रम की मर्यादा को स्थापित करने के लिए ऐसा ग्रन्थ आवश्यक था। असाधारण विद्या का यह अनुपम संग्रह है। प्रभाकर वर्धन ने हूणों को पूर्णतया खदेड़ा।

३११. **भामह**—अलङ्कारसूत्र का कर्ता आचार्य भामह (संवत् ५५० के समीप) इसी काल में हुआ। उससे आरम्भ होकर अलङ्कार-शास्त्र का अध्ययन उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता गया। इस शास्त्र का भारतीय संस्कृति पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। भरत मुनि के नाट्य वेद में अलङ्कार शास्त्र का वर्णन मिलता है, पर संक्षिप्त। भामह के काल से इस पर विस्तृत-विचार होने का पता चलता है। अलङ्कारों के कारण संस्कृत-काव्य का विवेचन नई दृष्टियों से होने लगा।

३१२. **नालन्दा का विश्वविद्यालय**—पटना से परे नालन्दा नाम का एक

ग्राम था। विक्रम की पहली शती से यह स्थान बौद्ध-विद्या का बड़ा केन्द्र बन रहा था। संवत् ५०० के समीप वहाँ का मुख्य आचार्य भदन्त धर्मपाल था। यहाँ का सरस्वती भण्डार (पुस्तकालय) प्राचीन ज्ञान का प्रख्यात संग्रहालय था। विद्यालय के भवन विशाल और वास्तुकला का श्रेष्ठ-निदर्शन थे। आचार्य के विद्यापीठ तक पहुँचने के लिए सात द्वार लाँघने पड़ते थे। द्वारों पर खड़े द्वारपाल भी विद्वान् भिक्षु हुआ करते थे। आचार्य को मिलने वाले को प्रत्येक द्वार पर द्वारपाल को सन्तुष्ट करना पड़ता था कि आगन्तुक स्वयं विद्वान् और आचार्य को मिलने का अधिकारी है। पाठक, विचार करें कि उस समय तक आर्यावर्त में विद्या का कितना प्रकाश था।

कहते है आचार्य धर्मपाल प्रसिद्ध दिन्नाग का शिष्य था। यदि यह बात प्रमाणित हो गई, तो हर्ष का काल कुछ पीछे हटेगा।

धर्मपाल का शिष्य भदन्त शीलभद्र था। जब संवत् ६५० के समीप ह्यून्त्साँग वहाँ पढ़ने को पहुँचा, तो आचार्य का वय लगभग १०० वर्ष का था।

धर्मपाल शास्त्र का पण्डित, प्रखर-प्रतिभा-युक्त, तपस्वी भिक्षु था। शीलभद्र की तपस्या और विद्या की प्रशंसा ह्यून्त्साँग ने की है।

३१३. हर्ष-कालीन प्रयाग का मेला—इस मेले का आँखों देखा चित्र चीनी यात्री ह्यून्त्सांग ने खींचा है। हर्षवर्धन के निमन्त्रण पर अनेक बौद्ध भिक्षु प्रयाग पहुँचे थे। शीलभद्र आदि भी उपस्थित थे। मेले के दिन यात्रा निकली। आगे-आगे शीलभद्र आदि थे। महाराज हर्षवर्धन नंगे पाँव आचार्यों के सिर पर छत्र धारण किये चल रहे थे। उत्तर भारत का सम्राट् कितना विनम्र था। उस समय जीवन और धर्म के प्रति सम्राटों की भी श्रद्धा था। भारतीय संस्कृति का यह प्रकाश-युक्त-दृश्य है। आत्म-जीवन के सामने प्राकृतिक ऐश्वर्य का हेयपन है।

३१४. बाण भट्ट—बाण महाराज हर्षवर्धन की सभा को सुशोभित करता था। पण्डित लोग उसे गद्य-कवि की उपाधि से अलङ्कृत करते हैं। उसका रचा हर्षचरित प्राचीन चरित ग्रन्थों का अच्छा नमूना है। इस चरित का ऐतिहासिक मूल्य बहुत अधिक है। बौद्ध-प्रवृत्ति रखने वाला हर्षवर्धन ब्राह्मण-विद्वानों का आदर करता था, यह तथ्य हर्ष और बाण के सहयोग से पूरा स्पष्ट होता है। बाण की कादम्बरी आख्यायिका भी विद्वानों में बहुत रुचि से पढ़ी जाती है। दोनों ग्रंथ प्राचीन इतिहास के संकेतों से भरे पड़े हैं।

३१५. भवभूति—महान् वैदिक विद्वान्, पद-वाक्य-प्रमाणज्ञ, मीमांसा-शास्त्र-निष्णात, भवभूति अपने नाटकों के कारण चिर-स्मरणीय हो गया है।

उसके तीन नाटक, महावीर-चरित, उत्तरराम-चरित और मालती-माधव सम्प्रति उपलब्ध हैं। पहले में राम के पूर्व-जीवन का और दूसरे में उत्तर-जीवन का चित्रण है। ये नाटक बताते हैं कि आर्य-प्रजा में अपने महापुरुषों के प्रति अगाध-प्रेम विद्यमान था। मालती और माधव की कथा सामान्य जीवन पर प्रकाश डालती है। वाङ्मय में भवभूति का स्थान कालिदास के साथ ही है।

भवभूति ने अनेक वैदिक पदों का प्रयोग उदारमन से किया है।

३१६. हम लिख चुके हैं, कि शताब्दियों के बौद्धमत के प्रचार के होने पर भी वैदिक-प्रजा आर्य-महापुरुषों से प्रेम रखती थी, उनमें श्रद्धा रखती थी। संस्कृत का प्रचार अपना प्रभाव जमाए था। दण्डी सदृश विद्वान् अलङ्कार विद्या को चमका रहे थे। इसके दो उदाहरण और भी हैं।

३१७. भट्टि—वल्लभी में रहने वाले भट्टि कवि का नाम कौन भारतीय नहीं जानता। उन्होंने महाराज श्रीधरसेन के काल में (६-७वीं शती विक्रम) भट्टी काव्य में राम का चरित उपनिबद्ध किया। इसमें एक ओर ऐतिहासिक कथा है और दूसरी ओर व्याकरण के प्रयोगों का निदर्शन। इसकी छाया पर उत्तर-काल में कलि-काल सर्वज्ञ जैन आचार्य हेमचन्द्र ने अपना द्वयाश्रय काव्य लिखा था।

३१८. वलभी—विक्रम शती २–३ से दशम शती तक राजधानी वलभी संस्कृति का एक महान् केन्द्र रह चुकी है। इस में वैदिक, जैन और बौद्ध सभी के मन्दिर और विहार थे। विद्याओं के पारङ्गत पण्डित इसमें रहे हैं। कई बड़े-बड़े ग्रंथ इसी स्थान पर लिखे गए थे।

३१९. माघ—सौराष्ट्र का ब्राह्मण माघ भी काव्य कला का श्रेष्ठ ज्ञाता था। उसमें कालिदास की उपमाएँ, भारवी का अर्थगौरव, और दण्डी का पद-लालित्य ये तीनों गुण थे। शिशुपाल-वध काव्य लिखकर उसने महाभारतस्थ श्रीकृष्ण चरित को उज्ज्वल कर दिया है।

———

तेईसवाँ अध्याय

वैदिक संस्कृति के विकार और अवान्तर विकार

३२०. इस पृथ्वी के साथ सूर्य एक है। चन्द्र भी एक है। ग्रह, नक्षत्र और तारागण से युक्त द्यौः भी एक है। इसी प्रकार सारी पृथ्वी के लिए अपौरुषेय ज्ञान भी एक है। वह वेद है, और इसे ही ऋषियों ने आदि सृष्टि में मानव को दे दिया। उसके आधार पर आदि में यथार्थ संस्कृति एक ही थी।

३२१. समय की गति से उस संस्कृति में अनेक विकार उत्पन्न होते गए, भारत में ही उन विकारों के कारण कई प्रकार की हीनता होती गई। असत्य, लोभ, छल, कपट, प्रतिज्ञाहानि, दुराचार, शासक वर्ग का व्यसनी होना, इत्यादि दोष बढ़ते गए।

मान्यताओं और विचारों में भी भेद बढ़ता गया।

३२२. असत्य आदि के कारण नए मत मतान्तर जन्मे। उनके द्वारा स्वार्थी लोगों ने अपना उल्लू सीधा किया। संसार में वैमनस्य के बढ़ाने वाले मार्ग विस्तृत होते गए।

३२३. भारत से वाह्य संसार की दशा का क्या कहना। उसमें मूल-संस्कृति का अत्यधिक विकार हुआ। धर्म-मार्ग, विद्या, संगीत, कला-कौशल और चरित्र लुप्त होने लगे।

३२४. यहूदी, बौद्ध, ईसाई और इस्लामी मतों ने संसार के विभिन्न प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व जमाया। उन्होंने संस्कृतियाँ भी विभिन्न मान लीं। ईश्वर-पूजा जो वैदिक संस्कृति के अनुसार दिन में मुख्यतया दो वार होती थी, वह इस्लाम में पाँच वार की नमाज़ (नमः) में परिणत हुई। प्राचीन संस्कृति में जहाँ चित्रकला का उत्कर्ष था, और राजाओं, ऋषियों और देवों के चित्र वनते थे, वहाँ इस्लाम में पैगम्बर जी का चित्र बनाना बुरा समझा गया।

३२५. ईसाई और इस्लामी मत वालों ने अपने अज्ञान के कारण मूल संस्कृति का ज्ञान न रखकर अवशिष्ट भारतीय वैदिक संस्कृति को कुचलना ही ठीक समझ लिया।

वेद-ज्ञान का अनादर करना इनके प्रचारकों के चरित्र में घर किए था।

३२६. अतः भारत में इस्लामी मत के आगमन के पश्चात् वैदिक संस्कृति का बड़ा ह्रास आरम्भ हुआ और गो-ब्राह्मण का उतना आदर न रहा, जितना

पहले था। इसके साथ अन्य बातों पर भी जो प्रभाव पड़ा, उसका वृत्तान्त आगे पढ़िए।

वैदिक संस्कृति में पुनर्जन्म का विश्वास जीवन का एक प्रधान अङ्ग था। यह विश्वास यूनान के कई विख्यात तत्त्ववेत्ताओं का भी था। पर यहूदी, ईसाई और इस्लामी विचारक निम्न कोटि के हो चुके थे। उनमें यह विश्वास सर्वथा लुप्त हो गया। स्वर्ग और नरक का विश्वास उनमें बना रहा, पर स्वर्ग और नरक की विभिन्न गतियाँ अथवा अवस्थाएँ न समझकर उन्होंने पुनर्जन्म का विश्वास त्याग दिया।

पुनर्जन्म के विश्वास के त्याग के साथ ही मृतक के शव के दाहकर्म की भी समाप्ति कर दी गई। अतः यहूदी, ईसाई और मुसलमानों के शरीर निधन के पश्चात् जलाए नहीं जाते, प्रत्युत दबाये जाते हैं। संसार के अनेक प्रदेशों में यह प्रथा चलने से जो हानि हुई है, उसे गम्भीर-विचारक जानते हैं।

पुनर्जन्म में विश्वास के लोप के साथ ही श्रेष्ठ और नीचकर्म करने के उद्देश्य में भेद पड़ गया। आर्य संस्कृति में सर्वस्वीकृत था कि अपने कर्म का फल अपने को ही इस जन्म अथवा जन्मान्तर में भोगना पड़ता है। पर इस विश्वास के हटते ही, एक दूसरा विश्वास दूषित-विचार के कारण मानव को दिया गया। भले ही बुरे कर्म करो, पर गुरु पर विश्वास लाने से सब दुष्ट-कर्म टल जायेंगे। ईमान मात्र लाओ और मुक्त हो जाओ।

मूल संस्कृति में विकार की यह चरम-सीमा हुई। फलतः मानव में सौजन्यता, सत्यता और सम्पूर्ण दुष्ट कर्मों से बचे रहने का भाव क्षीण होना आरम्भ हो गया। अन्धपरम्परा सर्वत्र बढ़ने लगी।

—

चौबीसवाँ अध्याय

इस्लाम-मत का भारत आगमन

(विक्रम संवत् ७५०—६५०)

३२७ वर्तमान देश-विभाजन से पूर्व के पुराने भारत के पश्चिम में कराची नगर से अरब-सागर का आरम्भ हो जाता है। यह सागर अरब तक पहुँचता है और इसी देश के नाम पर इस सागर का अरब सागर नाम पड़ा है। पुराने दिनों से भारतीय व्यापारी अरब जाते थे और अरबी व्यापारी भारत आते थे। अरबी भाषा के अनेक रूप संस्कृत भाषा के कई रूपों से सर्वथा मिलते हैं। दोनों भाषाओं में एकवचन, द्विवचन और बहुवचन, तीनों मिलते हैं। अरबी में प्रयुक्त आदम (यहूदी और मुसलमानों के प्रथम तथा मानव सृष्टि के आदि पुरुष का) नाम सीधा संस्कृत आदिदेव अथवा आदिम का रूपान्तर-मात्र है। अरबों में बली वाली ईद को ईद-उल-जुहा कहते हैं। जुहा शब्द संस्कृत जुहोति (अर्थात् हवि देना,) का रूपान्तर ही है। अरब और उनसे पहले यहूदी शिव-पूजक थे। रुद्र-देव का योरोपीय जातियों में बहु-मान था। योरोप के वर्तमान ऐतिहासिकों ने इन सत्य घटनाओं को छिपाने का पूरा यत्न किया है। अस्तु।

३२८. ऐसा देश विद्या के थोड़ा रह जाने के कारण पतन की ओर जाने लगा। एक पुरुष, जितनी चाहे स्त्रियाँ व्याह सकता था। अनेक देवताओं की पूजा प्रचलित हो चुकी थी। राज्य छोटी-छोटी रियासतों में बंट गया था। राजनीतिक स्थिति डांवांडोल रहती थी। ऐसे समय में विक्रम की सातवीं शती के अंत में अरब में एक विशेष पुरुष ने जन्म लिया। उसका नाम मुहम्मद था।

कुछ बड़े होकर मुहम्मद जी एक मत के स्थापक हो गए। अब श्रद्धालु उन्हें हजरत मुहम्मद कहने लगे।

३२९. **मत प्रचारार्थ राज-सत्ता का प्रयोग**—हज़रत मुहम्मद संसार के विभिन्न धर्मों के इतिहास में पहला पुरुष था, जिस ने धर्म प्रचारार्थ केवल उपदेश-मार्ग का त्याग करके सैनिक-शक्ति का भी प्रयोग प्रारम्भ किया। हजरत मुहम्मद के काल में अरब में तीन चार उपदेष्टा सुधार-कार्य कर रहे थे, पर हजरत मुहम्मद ने उनको पीछे छोड़ा। हज़रत मुहम्मद ने घोषणा की कि वे रसूल (ईश्वर से भेज गए) हैं। उन पर आस्मान से जबर-ईल

(फरिश्ता) के द्वारा वही (ईश्वरीय-सन्देश) समय-समय पर उतरते हैं। संसार के पुराने मतों में इलाही किताबें सब आस्मानी कही जाती हैं। यह पुराने वैदिक मत का अति स्थूल रूप है, जिस के अनुसार वेद-मन्त्र सर्व-प्रथम अन्तरिक्ष अथवा आकाश में उत्पन्न हुए। कुछ काल पश्चात् वही दैवी वाणी ऋषियों के हृदयों में प्रविष्ट हुई थी।

अपने मत को प्रभावशाली सिद्ध के लिए मुहम्मद जी ने वैदिक सिद्धान्त का प्रयोग अपने मत कें लिए किया।

३३०. मुहम्मदजी के मत का नाम मुहम्मदी मत अथवा इस्लाम हुआ। इस्लाम का अर्थ है—सुरक्षित करना। मुहम्मद जी ने ईश्वर-सन्देश को सुरक्षित किया। मुहम्मद जी ने अपने जीवनकाल में अपने मत का प्रचार किया। कभी-कभी उनके अनुयायियों ने युद्ध के अतिरिक्त भी लोगों पर जबर (बल डाल) कर उन्हें इस्लाम में प्रविष्ट किया। रसूल ने इसका खण्डन किया। कुरान में एक आयत है, उसमें अल्लाह (ईश्वर) कहता है कि तुम जबर क्यों करते हो। (क्योंकि—ला० इकराह-फिद्दीन) (अफ अन्त तुक्रे हुन नासह हत्ता यकूनू मोमिनीन)। पर इस्लामी संसार में यह जबर बढ़ता ही गया। इस्लाम के भक्त असहिष्णु होते गये। हजरत उमर ने जो दूसरे खलीफा थे, फारस देश पर आक्रमण किया, और वहाँ के शासक को सन्देशा भेजा कि यदि तुम मुसलमान हो जाओ, तो तुम पर आक्रमण नहीं किया जायगा। यह भावना यद्यपि कुरान के मूल-सिद्धान्त के विरुद्ध है, पर इस्लाम के अनुयायियों ने बहुधा इसी पर आचरण किया। इसके इतिहास में अनेक प्रमाण हैं।

इस्लाम के प्रचारक कुरान में लिखे उपदेश के विरुद्ध क्यों गए, इसका कारण अन्वेषण योग्य है।

३३१. संसार भर को मुसलमान बनाने की इस प्रेरणा से युक्त होकर अरब के खलीफाओं ने अपने निकट-वर्ती प्रदेश सिन्ध पर दृष्टि डाली। इस्लामी सेनाएं कई बार भारत के पश्चिम-प्रदेश पर चढ़ीं। उन्हें बार-बार मुँह की खानी पड़ी। संवत् ७०० में देबल के युद्ध में मुसलमान पराजित हुए। अन्ततः बौद्ध भिक्षु देश-द्रोही बने। उनकी सहायता से खलीफा की सेना जो मुहम्मद-इब्न-कासिम के सेनापतित्व में संवत् ७६९ में लड़ रही थी, दाहर के देबल के दुर्ग में प्रविष्ट हो गई। दाहर का सिर काटा गया। बन्दी वध किए गए और युवती स्त्रियाँ हज्जाज (ईराक के गवर्नर) को भेजी गईं। खलीफा उमर (संवत् ७७४-७७७) ने सिन्ध के अनेक राजाओं को धमकी दी कि वे मुसलमान हो जाएँ, अन्यथा उनके साथ युद्ध होगा।

३३२. उधर सौराष्ट्र में प्रतिहार-राज नागभट्ट और अवनिजनाश्रय पुलकेशीराज ने ताजिक आक्रमण को विफल कर दिया। मुसलमानों की दक्षिण की ओर बढ़ने की इच्छा नष्ट हो गई। सिन्धु में जब इस्लामी राज्य स्थिर हो गया तो खलीफा ने हिन्दू मन्दिरों के जीर्णोद्धार की आज्ञा हिन्दुओं को दे दी। हिन्दू अपने पूजा पाठ में कुछ स्वतन्त्र हुए, पर हिन्दुओं को मुस्लिम बनाने का काम मुस्लिम फकीर आदि करते रहे। यदि कोई मुस्लिम शासक मतान्ध और कट्टर होता, तो वह हिन्दू प्रजा को बलात् मुसलमान बनाने के उपाय निकालता रहा।

फकीरों की कबरें लाखों मूढ़ हिन्दू अब भी पूजते हैं।

३३३. भारतीय-भाषा का विनाश—मुस्लिम तम्पर्क के कारण अरबी और फारसी लिपि का प्रचार सिन्ध में बढ़ा। अनेक हिन्दू अरबी, फारसी पढ़ने लगे। संस्कृत और प्राकृत का प्रचार न्यून होने लगा। सिंधि भाषा में अल्लाह, रब्ब, बर्कत आदि बहुविध शब्द प्रयुक्त होने लगे। शनैः शनैः उत्तर-भारत में जहाँ-जहाँ तक इस्लामी लोगों का राज्य होता गया, वहाँ-वहाँ तक अरबी का प्रचार बढ़ता गया। मुस्लिम सम्पर्क के कारण अरबी-फारसी के शतशः अपभ्रंश शब्द इन देशों की भाषाओं में प्रविष्ट हुए। तदनन्तर दक्षिण पर भी यही प्रभाव पड़ा। पर इस अवस्था में भी भारतीय संस्कृति अपने उपकारक स्वरूप के कारण अरब पहुँची।

उसी मनोवृत्ति के अनेक क्रीत-दास आज भी उर्दू रूपी महाभ्रष्ट रूपों वाली भाषा के परमदास बने दिखाई देते हैं। शब्दों के स्वच्छ रूप सीखने में उनका आलस्य उनके मार्ग में बाधा डालता है, और उनकी भाषाओं के अपभ्रंश रूप धारण करने का अल्पज्ञान भी।

३३४. भारतीय संस्कृति अरब में—खलीफा हारुन-अल-रशीद (संवत्—८४३-८६६) के काल में काबुल के अनेक बौद्ध भिक्षु मुसलमान बन गये। बौद्धों में धर्मानुराग अति न्यून हो चुका था। उन्होंने खलीफा को परामर्श दिया कि भारतीय विद्याओं का अरबी भाषा में अनुवाद कराया जाय। तदनुसार भारतीय पण्डितों ने आयुर्वेदीय चरक और सुश्रुत संहिताओं का अरबी में अनुवाद किया। अनेक अरबी विद्वान् भारत में संस्कृत पढ़ने आये। भारतीय गणित का अंक-लेखन प्रकार अरब ने ग्रहण किया, और एक, दो, तीन आदि के संकेत अरब में प्रचलित हुए। इन्हें अरबी लोग हिन्दसा (पंजाबी, हिन्सा) अर्थात् हिन्द अथवा भारत का, कहने लगे। अरब से ये अंक सारे

योरोप में फैले। ज्योतिष के अनेक ग्रन्थ अरबी भाषा में अनूदित हुए। ब्रह्मगुप्त का खण्डखाद्यक उन में वर्णनीय है।

आर्य संस्कृति ने मतान्ध मुसलमानों पर भी अपना प्रभाव डाला।

इन्हीं दिनों में इस्लामी रहस्य-वादी सूफी फकीर वेदान्त-ज्ञान से प्रभावित हुए। सूफी मत पर वेदान्त का रंग चढ़ गया। दूसरी ओर हिन्दुओं की मूर्ति-पूजा पर इस्लाम का गहरा आघात हुआ। उत्तर-काल में कबीर आदि का मूर्तिपूजा-खण्डन इसी प्रभाव का फल था।

३३५. बौद्धमत और इस्लाम का आक्रमण—हम लिख चुके हैं कि कभी बौद्धमत दूर-दूर तक फैल चुका था। सारा काबुल बौद्ध मतानुयायी था। काबुल के पास बामियान के स्थान पर आज भी दीर्घकाय-बौद्धमूर्तियाँ खड़ी हैं। ईराक तक बौद्धमत का क्षेत्र था। अब ये देश मुसलमानों के अधिकार में आ रहे थे। मुसलमानों का धार्मिक आक्रमण बड़ा प्रबल हुआ। बौद्ध-संस्कृति में उसके रोकने की शक्ति नहीं थी। वर्णाश्रम धर्म के पालन से जो बल जाति में उत्पन्न होता है, वह उनमें नहीं था। काबुल का प्रदेश मुसलमान हो गया। सिन्ध के बौद्ध बहुत शीघ्र मुसलमान हुए। हिन्दू इस आक्रमण का प्रतिरोध करते रहे। वे मरना अच्छा समझते थे, पर धर्म-परिवर्तन उनमें से बहुत न्यून करते थे। हिन्दू के हृदय में अपनी संस्कृति का महत्त्व गहरा सन्निहित था। उच्च वर्णों के हिन्दू बहुत थोड़े मुसलमान हुए। छोटी जातियों के कुछ हिन्दुओं ने मत-परिवर्तन सरलता से कर लिया। वैदिक संस्कृति की सुदृढ़ता का यह स्पष्ट प्रमाण है।

३३६. तिब्बत और भारतीय सम्बन्ध—संवत् ८००-६०० तक तिब्बत के राजाओं ने बंगाल के कुछ भाग अपने अधीन कर लिए। पाल महाराज धर्मपाल (संवत् ८६०) से तिब्बत का एक राजा कर लेता था, ऐसा तिब्बत के इतिहासों में लिखा है। उस समय नालन्दा-विहार का प्रधान आचार्य शान्तरक्षित था। उसे तिब्बत के राजा ने बुलाकर तिब्बत के विहारों का महा-पुरोहित बना दिया। शान्तरक्षित ने बौद्ध-मत को तिब्बत का राजधर्म बना दिया। उसी काल से तिब्बत में लामा-धर्म का आरम्भ हुआ। पद्मसम्भव नाम का एक दूसरा भारतीय बौद्ध इस महत्कार्य में शान्तरक्षित का सहायक था।

काश्मीर का पण्डित अनन्त भी तिब्बत पहुँचा। उसने अनेक बौद्ध ग्रन्थों का तिब्बत की भाषा में अनुवाद किया। तभी चीन का एक बौद्ध भिक्षु तिब्बत पहुँचा। वह बड़ा विद्वान् था। उसके साथ शास्त्रार्थ के लिए मगध का बौद्ध दार्शनिक कमलशील तिब्बत बुलाया गया। एक बड़ी राज-सभा जुटी। उसमें

कमलशील विजयी हुआ और चीनी भिक्षु पराजित हुआ। कमलशील का सारे तिब्बत में महान् आदर हुआ। स्थान-स्थान पर बौद्ध मन्दिर बनने लगे। भारतीय ग्रन्थों का तिब्बतीय भाषा में अनुवाद होने लगा। भारत से सैकड़ों बौद्ध ग्रन्थ तिब्बत पहुँचे। तिब्बत का जल वायु अतिशीत है। वहाँ ताड़-पत्र के ग्रन्थ चिरकाल तक सुरक्षित रह सकते हैं। ये ग्रन्थ आज भी तिब्बत में सुरक्षित हैं। इनमें से कुछ एक पुनः भारत आ पहुँचे हैं। जिन ग्रन्थों के दोबारा मिल जाने की कभी आशा नहीं थी, वे पुनः सुलभ हो गये हैं।

वर्तमान में तिब्बत पर चीन का अधिकार होने से तिब्बत के मन्दिरों में पड़े शेष संस्कृत ग्रन्थों की दशा का अब कोई पता नहीं। कम्यूनिस्ट विचारधारा वैदिक संस्कृति का महाविरोध करने वाली है।

आचार्य धर्म-कीर्ति भी तिब्बत पहुँचा था। उन्हीं दिनों बौद्ध-धर्म का तान्त्रिक रूप तिब्बत पहुँचा। लामा लोग आज भी तन्त्र-विद्या में बहुत प्रवीण देखे जाते हैं। तिब्बत के भिक्षु तीर्थ-यात्रा के लिए भारत आने लग पड़े। वे यहाँ आकर बौद्ध-धर्म की शिक्षा भी ग्रहण करते थे। आचार्य शान्तरक्षित ने अपना विख्यात ग्रंथ तत्त्वसंग्रह लिखा, और कमलशील ने उस पर अपना भाष्य रचा। दोनों के ग्रन्थ पाण्डित्य का उत्कृष्ट-निदर्शन हैं।

विक्रम-शिला विहार

३३७. नवम शती में मगध और बङ्गाल पर पाल-वंशी राजा शासन करते थे। पाल-वंशीय धर्मपाल बौद्ध-मत में आस्था रखता था। उसने विक्रम-शिला में एक महा-विहार की स्थापना की। नालन्दा विहार के विश्वविद्यालय के समान इसमें भी अध्यापन का उच्च-स्तरीय प्रबन्ध था। राजकीय आर्थिक सहायता के कारण चार शतियों तक यह विहार बहुत प्रफुल्लित अवस्था में रहा।

इस विहार में नालन्दा के समान द्वारपण्डित नियुक्त थे। वे शास्त्रों के विद्वान् और शील के निधि थे। ऐसे छः पण्डित द्वार-रक्षा करते थे। उनकी आज्ञा के विना कोई दर्शक विद्वान् आचार्यों के पास नहीं जा सकता था। प्रत्येक द्वार के अंदर विभिन्न भवन थे। इन भवनों में पृथक्-पृथक् विषयों का अध्यापन-कार्य होता था। प्रत्येक विभाग में १०८ अध्यापक थे। इस प्रकार कुल अध्यापक ६४८ थे। वे अपने शास्त्रों, तथा वैदिक और जैन शास्त्रों के भी पण्डित होते थे। प्रधान सभा-भवन में ८००० हजार व्यक्ति एक साथ बैठ सकते थे। सम्पूर्ण बस्ती के बाहर चारों ओर एक सुदृढ़ प्राचीर बनाई गई थी। सब की रक्षा और उनके स्वास्थ्य की देख-भाल का पूरा प्रबन्ध था।

विद्यार्थियों की संख्या भी बहुत अधिक थी। इसका कारण था आर्थिक सहायता का सुलभ होना। बाहर से आया छात्र पहले धर्मशाला में रहता था। जब उसका विहार-प्रवेश स्वीकृत हो जाता था, तब वह अंदर निवास-स्थान प्राप्त करता था। यहाँ का सरस्वती-भण्डार भी बहुत अच्छा था। तान्त्रिक ग्रन्थ यहाँ बहुत अधिक थे। विक्रमशिला से विख्यात-कीर्ति विद्वान् उत्पन्न हुए। प्रज्ञाकरमति, रत्नकीर्ति, ज्ञानश्रीमित्र और दीपंकर अतिश बहुत प्रसिद्ध हुए।

३३८. दीपंकर और तिब्बत—दीपंकर की ख्याति सुनकर तिब्बत के राजा ने उसको बुलाने के लिए अपने प्रतिनिधि भेजे। इस निमन्त्रण देने वाले मण्डल में एक सौ सेवक थे। वे राजा का निमन्त्रण-पत्र और बहुत-सा सुवर्ण लेकर दीपंकर की सेवा में पहुँचे। दीपंकर ने धन-राशि ग्रहण नहीं की और तिब्बत जाने में असमर्थता प्रकट की। कुछ काल पश्चात् राजा एक युद्ध में हारा और शत्रु द्वारा बन्दी बनाया गया। वहीं राजा की मृत्यु हुई। मृत्यु से पहले राजा ने दीपंकर को एक मर्मस्पर्शी-पत्र भेजा। दीपंकर का हृदय पिघल गया और उसने तिब्बत जाने का संकल्प कर लिया। दीपंकर ने तिब्बत की ओर प्रस्थान किया। सीमा पर उसका बड़ा स्वागत हुआ। चार सेनापति और एक सौ अश्वारोही उसका स्वागत करने आये थे। वे पूरी सज-धज के साथ आचार्य को ले आये।

सम्पूर्ण तिब्बत ने आचार्य का स्वागत किया। दीपंकर जीवन के शेष १३ वर्ष वहीं रहा। प्रचार में दत्तचित्त वह उपदेश देता और ग्रन्थ लिखता था। दीपंकर का नाम आज भी बड़े आदर से सारे तिब्बत में स्मरण किया जाता है।

भारतवर्ष का षष्टी संवत्सर उसी काल में तिब्बत पहुँचा। बौद्धों के वज्रयान सम्प्रदाय के अनेक आचार्य तिब्बत जाते रहे। उनके द्वारा तन्त्र-मत का शासन स्थिर रहा। तिब्बत के बौद्ध ग्रन्थों की एक विस्तृत सूची फ्रैञ्च विद्वान् कार्डियर आदि ने बनाई थी। उससे ज्ञात होता है कि ग्रन्थों की संख्या बहुत थी।

———

पच्चीसवाँ अध्याय

दशम शती के मध्य से संवत् १२०० तक

३३९. **बौद्धों पर अन्तिम प्रहार**—बौद्ध और वैदिक विद्वानों का जो संघर्ष विक्रम की पहली शती के आस-पास से चला था, उसकी समाप्ति का काल आ गया। जिस संघर्ष में उद्योतकर, कुमारिल, शङ्कर और वाचस्पति मिश्र ने वैदिक-पक्ष की रक्षा की, उसका अन्तिम विख्यात प्रतिनिधि उदयन था। सुबन्धु, दिङ्नाग और ईश्वरसेन की परम्परा में होने वाला बौद्धों का अंतिम मूल लेखक आचार्य धर्मकीर्ति था। उदयन पूर्वदेश का निवासी था। उसने अनेक ग्रन्थ लिखे। उनमें से चार बहुत प्रसिद्ध हैं। आत्मतत्त्वविवेक, किरणावलि,लक्षणावलि और न्याय कुसुमाञ्जलि। कुसुमाञ्जलि में ईश्वर-सिद्धि पर तर्क उपस्थित किए गये हैं। ये तर्क न्याय-विद्या के संसार में बहुत आदर से देखे जाते हैं।

नास्तिकता के केवल प्रेय-मार्गवर्ती दुर्ग पर उदयन का प्रहार बहुत प्रबल था। उसकी प्रत्येक युक्ति नया दृश्य उपस्थित करती है। युक्ति की स्पष्टता पाठक के हृदय पर विचित्र संस्कार डालती है। इस चोट के पश्चात् बौद्ध-तर्क सर्वथा निर्बल हो गया। बौद्ध-मत में असाधारण प्रतिभा का कोई विद्वान् उत्पन्न नहीं हुआ। इसके कुछ काल पश्चात् बौद्ध-मत अपनी जन्म-भूमि से पूर्णतया निर्वासित हो गया।

मूर्ख बौद्ध मुसलमान हो गए, और जो कुछ समझदार थे, वे पुनः हिन्दू बने।

आत्मतत्त्वविवेक में आत्मा का निरूपण है। आत्म-ज्ञान की पिपासा के कारण, उसके शान्त करने के उपाय और आत्मज्ञान के लाभों का उल्लेख है। किरणावलि में वैशेषिक शास्त्र की व्याख्या है। वैशेषिक विद्या अथवा भौतिक विज्ञान के जो गिने-चुने ग्रन्थ इस समय उपलब्ध होते हैं, उनमें से यह ग्रन्थ विशेष आदरणीय है। इस शास्त्र के पुराने भाष्यों के उद्धरण कहीं-कहीं इस में मिलते हैं। प्रतीत होता है, उदयन न्याय और वैशेषिक में बहुत गति रखता था। लक्षणावलि में वह अपना काल शक ९०६ लिखता है। अतः स्पष्ट है कि संवत् १०४० के समीप उदयन जीता था।

३४०. अल-मासूदी और आर्य संस्कृति—संवत् ९९० के समीप अरबी-लेखक मासूदी लिखता है—

हिन्दू सुरा-पान नहीं करते, और पीने वालों से घृणा करते थे। इसका कारण धार्मिक-बाधा न होकर सुरा से होने वाला विचार-शक्ति का ह्रास ही समझा जाता था। यदि उस समय के किसी राजा का मद्य-पान करना प्रमाणित हो जाता था, तो उसे राज्य से परे होना पड़ता था। उस समय के भारतीयों का मत था कि राजा की बुद्धि पर सुरा का प्रभाव होने से उसकी शासन-शक्ति का लोप हो जाता है। इति।

कहाँ वे दिन और कहाँ आज का भारत। शतशः सरकारी कर्मचारी सुरापान व्यसन के दास हो चुके हैं। वे मूढ इसमें अपना गौरव समझते हैं।

३४१. महमूद द्वारा पश्चिमोत्तर भारत में संस्कृति-नाश–इस्लाम की शक्ति सिन्धु-देश में पहुँच चुकी थी। संवत् १०६० तक अर्थात् लगभग ३०० वर्ष यह सिन्धु और मुलतान तक ही सीमित रही। पञ्जाब और सौराष्ट्र के शक्तिशाली राजाओं ने इसे आगे नहीं बढ़ने दिया। पर संवत् १०६० के पश्चात् गजनी से महमूद ने पञ्जाब पर आक्रमण आरम्भ किए। महमूद के साथ अल्वेरूनी नाम का एक विद्वान् था। उसने भारत में रहकर संस्कृत-विद्या का अध्ययन किया, और भारतीय संस्कृति के इतिहास पर एक ग्रंथ लिखा। वह ग्रंथ बड़ा उपादेय है।

महमूद ने पञ्जाब को मिट्टी में मिला दिया। उसके आक्रमणों के विषय में अल्वेरूनी लिखता है—

महमूद ने भारत के ऐश्वर्य को सर्वथा नष्ट कर दिया, और वहाँ ऐसे अद्भुत पराक्रम दिखाए कि हिन्दू मृत्तिका के परमाणुओं की भाँति चारों ओर बिखर गए और उनका नाम लोगों के मुख में एक प्राचीन-कथा के समान ही रह गया।··· हिन्दू विद्याएँ हमारे द्वारा विजित देशों से भाग कर काश्मीर, बनारस आदि सुदूर स्थानों में चली गई हैं, जहाँ हमारा हाथ नहीं पहुँच सकता। इति।

इस वर्णन से ज्ञात होता है कि महमूद ने संस्कृति का घोर नाश किया। भागते हुए ब्राह्मण अपने साथ प्राचीन ग्रन्थ नहीं ले जा सके। उन्हें जीवन की पड़ी थी। तब कितने अमूल्य ग्रंथ नष्ट हुए, इसकी कौन कहे। पञ्जाब में संस्कृत-विद्या लगभग नष्ट हो गई। आचार-व्यवहार समाप्त हो गया। कला के उत्कृष्ट निदर्शन-लुप्त हो गए। यही कारण है कि पञ्जाब में प्राचीन मन्दिर नहीं मिलते। पूजा-पाठ का तब लोप हुआ।

३४२. **महाराज भोज द्वारा संस्कृति-उद्धार**—जिस समय गजनी का महमूद उत्तर-पश्चिम भारत पर आक्रमण करके पञ्जाब की आर्य-संस्कृति का समूल उच्छेद कर रहा था, उस समय मालवा के परमार-वंश का भोज भारत के पश्चिम में राज्य करता था। भोज ने अपनी राजधानी धारा नगरी में बनाई। यहाँ उसने विभिन्न-विद्याओं के सकल-दिगन्तरोपागत विद्वानों का संघ एकत्र किया। उसने संस्कृत के पठन-पाठन के लिए शारदा-सदन अथवा भोज-शाला बनवाई। उस शाला के चारों ओर शिलाएँ लगवाई गईं। उन शिलाओं पर 'कूर्मशतक' नाम के दो प्राकृत काव्य और भर्तृहरि की कारिकाएँ आदि कई ग्रन्थ उत्कीर्ण कराए गए। पाठशाला की लम्बाई २०० फुट और चौड़ाई ११७ फुट थी। उसके पास एक 'सरस्वती कूप' था। भोज के समय (सं० १०७५-१११०) मालवा में विद्या का प्रचार बहुत बढ़ा।

३४३. भोज स्वयं विद्वान् था। उसने स्वयं अथवा अपने विद्वानों की सहायता से जो ग्रन्थ रचे, उनमें से कुछ एक के नाम आगे लिखे जाते हैं। व्याकरण में सरस्वती-कण्ठाभरण नाम का, तथा अलङ्कार शास्त्र में भी इसी नाम का ग्रन्थ, भोज ने रचा। भोजरचित 'युक्ति कल्पतरु' और 'समराङ्गण सूत्रधार' नाम के दो ग्रन्थ शिल्प-शास्त्र विषयक छप चुके हैं। समराङ्गण में यन्त्रों के वर्णन पर एक विचित्र अध्याय है। तदनुसार यन्त्र सशब्द और निःशब्द दो प्रकार के होते थे। वर्तमान-युग में निःशब्द यन्त्र अभी तक नहीं बन सके। समराङ्गण में ही आकाशगामी विमानों का उल्लेख है। ये विमान पारद की शक्ति से उड़ते थे। भोज लिखता है कि पुराने दिनों में भूभुजों के पास विमान अथवा व्योमयान होते थे। निर्जीव मूर्तियों के यन्त्रों द्वारा सजीव-रूप से काम करने का उल्लेख इस पुस्तक में है। वस्तुतः भोज ने भारतीय-संस्कृति की बड़ी रक्षा की।

धर्मशास्त्र, वैद्यक, तथा राजशास्त्र पर भोज ने ग्रंथ लिखे थे। उनके उद्धरण भी अनेक ग्रंथों में मिलते हैं। वेद-विद्या का प्रसार उस समय भी नहीं हुआ।

३४४. भोज का दान अतिप्रसिद्ध हुआ। इसी दान के कारण उसने भारत के विभिन्न तीर्थ-स्थानों में अनेक मन्दिर बनवाए। भोज शैव था और ये मन्दिर शिव-सम्बन्धी थे। भोपाल (भोजपाल) की २५० वर्गमील झील (ताल, सागर) इसी राजा की बनवाई हुई थी। वास्तु-कला का यह उत्कृष्ट

नमूना थी। भोज के काल के भारतीय वास्तु-कलाविद् बहुत निपुण थे। इस पुण्य काम के कारण भोज के राज्य में कृषि फलवती थी और दुर्भिक्ष का चिन्ह नहीं था।

भोज के शिल्पी—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास के आरम्भ में किसी भोजप्रबन्ध से एक श्लोक उद्धृत किया है। वह श्लोक मुद्रित भोज प्रबन्ध में नहीं है। पर वह किसी न किसी भोजप्रबन्ध में होगा अवश्य। उसके अनुसार किसी शिल्पी ने यन्त्र कलायुक्त एक कृत्रिम अश्व बनाया था, जो एक कच्ची घड़ी में ग्यारह कोश और एक घण्टे में साढ़े सत्ताईस कोश जाता था। इति।

और दूसरा पंखा ऐसा बनाया था कि विना मनुष्य के चलाये कलायन्त्र के बल से नित्य चला करता था और पुष्कल वायु देता था।

राजनीतिक दूरदर्शिता की क्षीणता - संस्कृति का आधार राजसत्ता होता है। संस्कृति का सतत फलना-फूलना राज-शासन के साहाय्य के विना असम्भव होता है। संस्कृति का विजय दण्डनीति के आश्रय पर स्थिर है। इस राज-शासन का अतुलनीय बल सदा अपेक्षित होता है।

महाराज भोज का सैनिक बल बहुत था, पर भाषाभेद, मतभेद, और स्वार्थ के कारण सम्पूर्ण भारत भोज के साथ एक सूत्र में बन्ध नहीं पाया। अथवा ऐसा भी हो सकता है कि भोज में उस जातीय ऐक्य को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं थी। अतः आर्य संस्कृति के उपासक एक सूत्र में बन्धे नहीं। स्वार्थ का भी पलड़ा अधिक हो रहा था। अतः इन कारणों के फलस्वरूप भोज के पश्चात् ही इस्लाम ने भारत में अपने पैर अधिक जमाने का अवसर पा लिया।

३४५. काश्मीर में शैवमत का उदय—इसी काल में काश्मीर में एक तेजस्वी ब्राह्मण जन्मा। उसके जीवन का सक्रिय-भाग संवत् ११०० के समीप का है। उसका नाम था अभिनव गुप्त। वह अनेक शास्त्रों का पण्डित, मन्त्र-शास्त्र-कुशल और शैव मतानुयायी था। शैव-मत का प्रचार प्राचीन काल से काश्मीर में चला आया है। संवत् १००० से इस मत के अनेक प्रसिद्ध आचार्य काश्मीर में हुए। पर उन सब का शिरोमणि यह आचार्य था। इन आचार्यों के सतत प्रचार से काश्मीर भूमि से बौद्धमत निर्वासित हो गया। शैव मन्दिरों का निर्माण बढ़ा। संस्कृत का प्रचार बढ़ा और मन्त्र-शास्त्र का हिन्दू-रूप देश में फैला। शैवाचार्य सिद्धि-सम्पन्न थे, इसकी लोक-कथायें सर्वत्र फैलीं। योगविद्या का प्रचार भी कुछ-कुछ बढ़ा।

अभिनव गुप्त ने काश्मीर के शैव-सम्प्रदाय के प्रत्यभिज्ञा-शास्त्रों पर भाष्य और टीकाएं रचीं। उसने भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र पर एक विस्तृत भाष्य लिखा। अभिनव गुप्त का गीता-भाष्य भी इस समय उपलब्ध होता है।

३४६. रामानुज—जब भोज और अभिनव गुप्त उत्तर में भारतीय संस्कृति के संरक्षण और व्याख्यान में संलग्न थे, तब लगभग उसी समय सुदूर दक्षिण में एक और आचार्य उत्पन्न हुआ। उसका नाम रामानुज था। उसका विद्यागुरु महान् विद्वान् यादव-प्रकाश था। दक्षिण में यामुनाचार्य आदि के काल से भक्ति का स्रोत बहना आरम्भ हो गया था। रामानुज के काल तक वह पूरे वेग पर पहुँचा।

भक्ति में असीम श्रद्धा, अटूट विश्वास और अतीव स्वच्छ जीवन की आवश्यकता होती है। इसमें विद्या के उपार्जन का घोर तप तपना नहीं पड़ता। अतः भक्ति मत ने संस्कृति की कुछ रक्षा की अवश्य, पर विद्या का ऐश्वर्य न्यून होने लगा। विद्या के प्रति आलस्य का भाव भी पनपा।

शङ्कराचार्य अद्वैतमत का प्रचार कर गये थे। अद्वैतमत में केवल ज्ञान का आश्रय लिया जाता था। अनेक लोग उस ज्ञान तक पहुँचने में असमर्थ थे। उनके लिए किसी अन्य मार्ग की आवश्यकता थी। दक्षिण के भक्तों ने वह मार्ग निकाला, और रामानुज के काल से वह अपनी चरम-सीमा को प्राप्त हुआ। रामानुज ने शङ्कर के समान प्रस्थान-त्रयी अर्थात् उपनिषद्, गीता और वेदान्त-दर्शन पर अपने भाष्य रचे। इसका मत विशिष्टाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जगत् की वर्तमान अवस्था में ये द्वैत को ही सत्य समझते थे। इसीलिए उन्होंने ज्ञान के साथ भक्ति का उपदेश भी आरम्भ किया। इनका उपदेश सब वर्णों के लिए समान था। जाति की उच्चता और नीचता का इन्होंने उपदेश-मार्ग में कोई अंतर नहीं माना।

रामानुज का मत सर्वथा कल्पित मत नहीं था। इसे शास्त्र का कुछ आधार प्राप्त था। हम लिख चुके हैं कि वेदान्त-दर्शन पर महाभारत-युद्ध के कुछ काल पश्चात् ही बोधायन मुनि की एक वृत्ति और भगवान् उपवर्ष का एक भाष्य था। इन्हीं दोनों पर टङ्क और द्रमिड़ाचार्य के वार्तिक आदि थे। इन सब ग्रंथों के आधार पर रामानुज ने प्रस्थान-त्रयी का व्याख्यान किया। दुःख का स्थान है कि इन आधार ग्रन्थों में से इस समय एक भी प्राप्त नहीं है। पर इतना सत्य प्रतीत होता है कि शांकर-भाष्य का बोधायन-वृत्ति से पर्याप्त विरोध था।

रामानुज के प्रचार से दक्षिण में वैष्णव सम्प्रदाय बहुत फैला। आज भी लाखों वैष्णव दक्षिण में दिखाई देते हैं। इनके माथे पर एक विशेष प्रकार का टीका लगा रहता है। इस सम्प्रदाय की परम्परा में अन्य अनेक आचार्य भी गण्यमान्य हो चुके हैं, और अब तक हैं।

३४७. वाराणसी की देन—संवत् १२०० के समीप मध्य-भारत पर महाराज गोविन्दचन्द्र का राज्य था। इसी के प्रताप के कारण मुसलमान देहली के आस-पास तक रुके रहे। वे उस समय आगे नहीं बढ़ सके। इस राजा का मन्त्री बुद्धिमान्, दूरदर्शी और बहु-शास्त्र-निष्णात था। उसका नाम लक्ष्मीधर था। उसने एक ग्रन्थ कृत्यकल्पतरु नामक चौदह भागों में रचा। दैव-योग से इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण भागों का मुद्रण हो गया है। प्रतीत होता है, उस काल तक भारत का विद्याधन पर्याप्त सुलभ था। वे अनेक ग्रन्थ जो आज अप्राप्त हैं, उस काल में मिलते थे। लक्ष्मीधर ने पुराने वाङ्मय का सुन्दर संकलन करके अपना ग्रन्थ लिखा। यदि यह ग्रन्थ बचा न रहता, तो सैकड़ों पुराने ग्रन्थों के सन्दर्भ हम तक पहुँच न पाते। निस्सन्देह लक्ष्मीधर ने संस्कृत विद्या के उद्धार का भाव जगाया, और उसका फल था कि आर्य सजग थे और नाशकारी बाह्य-शक्तियों का यथाशक्ति प्रतिरोध कर रहे थे।

———

छब्बीसवाँ अध्याय

प्राकृतों और अपभ्रंशों का साम्राज्य

३४८. **संस्कृत का महत्त्व**——भाषा का जातियों की संस्कृति पर गहरा प्रभाव होता है। भाषा संस्कृति का मानदण्ड है। भाषा में देश के ऐक्य का सूत्र है। भाषा द्वारा मानव से मानव आकर्षित होता है।

जिस भाषा का शब्द-भण्डार थोड़ा है, उसके बोलने वालों का स्तर नीचा समझा जाता है। थोड़े शब्दों वाली भाषा में विज्ञान के बहुविध अङ्गों का अभाव होता है। उदाहरणार्थ अंग्रेजी को ले लें। प्रत्येक आविष्कार के साथ नए-नए शब्द अंग्रेजी में प्रविष्ट हुए। चाहे ये शब्द पूर्व-प्रचलित शब्दों के जोड़-तोड़ का परिणाम थे, चाहे दूसरी भाषाओं से लिए गये थे, चाहे संज्ञाओं के रूप में घड़े गये थे, पर थे ये नये।

संस्कृत को देखिए। इसका शब्द-भण्डार कभी बहुत विस्तृत था। आज भी संस्कृत के मोनियर विलियम्स के कोष में एक लाख अस्सी सहस्र शब्द सन्निविष्ट हैं। उस कोष के बनने के पश्चात् लगभग एक लाख शब्द और मिल चुके हैं। अब भी संस्कृत के अनेक नए हस्त-लिखित ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे हैं। उनमें भी नए शब्द मिल जाते हैं। अनुमान है कि कभी संस्कृत के शब्द दस लाख से ऊपर थे। इससे ज्ञात होता है कि भारतीय संस्कृति के पास कभी बड़ा विज्ञान था। प्राचीन आर्य अयस्कान्त मणि (चुम्बक आदि), सूर्यकान्त मणि, अम्बु-भक्षण मणि, कंस (इस मणि का एक कृत्रिम प्रकार), और चन्द्रकान्त मणि (रात्रि को चन्द्र-योग से जल उत्पन्न करने वाली मणि) आदि शब्द प्रयुक्त करते थे। उनके पास ये वस्तुएं अवश्य थीं। शब्दों में सूक्ष्म अर्थभेद की जितनी मात्रा जिस भाषा में जितनी अधिक होती है, उतनी ही वह भाषा उन्नत होती है। संसार में संस्कृत से बढ़कर अर्थों का यह सूक्ष्म-भेद अन्य किसी भाषा में नहीं है। अतः संस्कृत भाषा परम-उन्नत थी। शब्दों का सावधानता से अध्ययन किया जाए, तो उससे निकाले परिणाम अकाट्य होते हैं।

ऐसी विस्तृत, शब्द-बहुला, सर्व-संसार में व्यापक, प्राञ्जल, परिमार्जित संस्कृत भाषा का ह्रास कृतयुग के अंत से प्रारम्भ हो गया था। अधिकांश जन विद्वान् थे, पर कुछ लोग आलस्य-युक्त और प्रमादी हो रहे थे। शुद्ध उच्चारण

आ। मि। में परिश्रम न्यून करते जा रहे थे। फलतः प्राकृत की उत्पत्ति हुई। म्लेच्छ भाषाएँ अर्थात् भारत के बाहर की अपभ्रंश-भाषाएँ भी अस्तित्व में आईं। संस्कृत की अपार शब्द-राशि का ज्ञान इस प्रकार भी होता है कि अनेक वैदिक शब्द जो सम्प्रति उपलब्ध संस्कृत ग्रन्थों में नहीं मिलते, वे पञ्जाबी, हिन्दी और गुजराती आदि भाषाओं में अपभ्रंश-रूप में मिलते हैं। उदाहरणार्थ, पञ्जाबी में चार शब्द हैं—खव्वा (वायाँ), गड्डा (गाड़ी, रथ), जणियाँ (स्त्रियां) तथा पिलपिला (नरम, ढीला)। इन्हीं अर्थों को देने वाले वैदिक शब्द-खर्व, गर्त, जनी और पिलिप्पिला हैं। पूर्वोक्त वर्तमान पञ्जाबी शब्द इनके सीधे अपभ्रंश हैं।

३४६. भरत मुनि के काल से पूर्व ही प्राकृत का चक्र चल पड़ा था। यह चक्र अधिकाधिक तीव्र होता गया। तथागत बुद्ध और महावीर स्वामी के काल में प्राकृत का प्रचार अधिक बढ़ा। तब प्राकृत धर्म-भाषा हो गई, और साहित्य में प्रयुक्त होने लगी। पाली की गाथाओं. जातकों, त्रिपिटक और धम्मपद से बुद्ध-कालीन प्राकृत का पता चलता है। उसके पश्चात् भास के नाटकों, अशोक के धर्म-शासनों तथा अश्वघोष और कालिदास के नाटकों में प्राकृत का दर्शन होता है। पत्पश्चात् हाल की गाथा सप्तशती, गौडवहो और कर्पूर मञ्जरी आदि में प्राकृत मिलती है। पर इसका वाङ्मय संस्कृत वाङ्मय के समान कभी अति विस्तृत न हो सका। फलतः प्राकृत भाषा की शब्द राशि थोड़ी रही। इसमें आयुर्वेद का सम्पूर्ण ज्ञान भी नहीं आया, शिल्पों का ज्ञान तो बहुत ही थोड़ा लिखा गया। अनेक वैज्ञानिक बातें भूलती जा रही थीं। संस्कृत से प्राकृतानुवाद हुए, पर अधिक नहीं। प्राकृत के प्रचार के युग में भी संस्कृत ने एक वार फिर सिर उठाया। जैन और बौद्ध वाङ्मय जो कई शताब्दियों तक प्राकृत-मात्र में था, एक वार पुनः संस्कृत में लिखा जाने लगा। राज-भाषा भी संस्कृत हुई। साहसाङ्क चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने जो स्वयं महान् पण्डित था, इसको बहुत प्रोत्साहन दिया। यह अवस्था कुछ शतियों तक बनी रही। अन्त में ब्राह्मण के उत्तरोत्तर अभाव और आलस्य के कारण पुनः प्राकृत भाषा का प्रचार बढ़ा। पर ग्यारहवीं शती के अन्त में धाराधीश्वर भोज ने संस्कृत का साम्राज्य पुनः खड़ा कर दिया।

३५०. काल बीतता गया। संसार ह्रास की ओर जा रहा था। आलस्य बढ़ा। एक-एक शुद्ध संस्कृत शब्द के अनेक रूपान्तर हुए। ये अपभ्रंश कहाए। प्राकृतों में संस्कृत के विकारों के कुछ नियम थे। उनमें प्रकृति (मूलधातु आदि) का रूप अधिक विकृत नहीं था। पर अपभ्रंशों में ये नियम नहीं बन

सके। अपभ्रंश विभिन्न दिशाओं में जाने लगे। भरत मुनि, व्याकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि, कालिदास, वररुचि और बाण आदि ने अपभ्रंशों के अस्तित्व का पता दिया है। उस समय अपभ्रंश भाषा थी अवश्य, पर उसमें साहित्य की सृष्टि नाम-मात्र की थी। दशम शती के आस-पास से ऐसा युग आया जब प्राकृत का प्रचार न्यून होने लगा। उस समय अपभ्रंश के कवि उत्पन्न हुए। इस भाषा में काव्य लिखे जाने लगे। छन्द-शास्त्र भी अनूदित हुए। आयुर्वेद ग्रन्थ, रामायण, महाभारत और पुराण आदि भी अपभ्रंश भाषा में हो गए। अपभ्रंश ने साहित्यिक भाषा का रूप धारण कर लिया। संवत् १२०० तक अपभ्रंश भाषा का विशेष प्रचार हो चुका था।

३५१. **देश के ऐक्य को धक्का**—प्राकृत में संस्कृत-तुल्य शब्द-राशि नहीं रही। लाखों संज्ञावाची और पारिभाषिक शब्द लुप्त हो गये। विज्ञान का ह्रास हो गया। अपभ्रंशों में प्राकृत-तुल्य शब्द-राशि भी नहीं रही। अपभ्रंशों के बहुविध होने के कारण प्रान्त प्रान्त की भाषा विभिन्न दिशाओं में चलने लगी। भाषा-भेद के कारण देश का ऐक्य न्यून हो गया। बंगाली, पञ्जाबी के समझने में अशक्त हुआ और पञ्जाबी गुजराती के समझने में। संस्कृत के विद्वान् इन सबसे पृथक् रहे। अब ये संख्या में थोड़े होते जा रहे थे। संस्कृत का पठन-पाठन कुछ ही विषयों तक सीमित रह गया। प्राकृत अधिक लुप्त होने लगी। संस्कृत और प्राकृत ग्रन्थ कुछ तो इस्लामी आक्रमणों के कारण और कुछ पठन-पाठन के अभाव से नष्ट होने लगे।

कथा-युग

३५२. वैसे तो कथा-साहित्य चिरकाल से भारत में रचा जाता रहा है, पर विक्रम की नवम शती से चौदहवीं शती तक भारत के साहित्यिक संसार में कथा-साहित्य का अधिक प्रचार हुआ। दूसरे विषय गौण हुए और प्रजा की रुचि कथा-साहित्य में बढ़ी। विलासिता का युग आरम्भ हो चुका था। गम्भीर साहित्य का अभाव और कथा-कहानी और उपन्यास आदि का बहु-विस्तार साहित्य की बाल्यावस्था का द्योतक है, अथवा जाति की आराम की रुचि का।

कश्मीर में महाकवि गुणाढ्य की पैशाची-भाषा की बृहत्कथा के दो अनुवाद संस्कृत में हुए। एक था सोमदेव सूरि का कथासरित्सागर के रूप में, और दूसरा क्षेमेन्द्र का बृहत्कथामञ्जरी के रूप में। भट्ट बुधस्वामीकृत बृहत्कथा श्लोकसंग्रह भी उन्हीं दिनों अस्तित्व में आया। संस्कृत के अन्य अनेक कथा ग्रन्थ इन्हीं दिनों रचे गये।

अपभ्रंश भाषा का कथा-युग

३५३. स्वयंभू—विक्रम के अष्टम-नवम शतक से अपभ्रंश भाषा साहित्यिक-रूप धारण कर चुकी थी। जैन कवि स्वयंभू का पउम चरिउ (पद्म-चरित) रचा जा चुका था। इसमें राम-कथा का जैन-दृष्टि से कथन किया गया है। अभी तक इसे ही अपभ्रंश भाषा का आदि काव्य समझना चाहिए।

स्वयंभू का कनिष्ठ पुत्र त्रिभुवन भी अपने पिता के समान अपभ्रंश का उत्कृष्ठ कवि हुआ। उसने 'पउम चरिउ' के अन्त में अपनी रचना की सात सन्धियाँ नई जोड़ीं।

इनके पश्चात् पुष्पदन्त नाम के एक महान् जैनाचार्य हुए। उन्होंने अपभ्रंश भाषा में आदि-पुराण और उत्तर-पुराण लिखे। इनके उत्तर-पुराण की ग्यारह सन्धियों में रामकथा का वर्णन है। आर्य लोग रामायण-कथा का सदा से आदर करते रहे हैं। रामायण हिन्दू-संस्कृति का प्राण रहा है। जैन इस अभाव को अनुभव करते थे। उन्होंने प्रजा की राम-प्रियता की रुचि को देख कर उस समय की प्रचलित अपभ्रंश भाषा में राम-कथाएँ लिखीं।

३५४. भविसियत्त-कहा—कवि धनपाल (धणवाल) का यह ग्रन्थ अपभ्रंश-भाषा का ग्रन्थ-रत्न है। इसकी रचना दशमशती विक्रम में अनुमानित की जाती है। उस समय तक यह भाषा जीवित थी। जैनाचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् इस भाषा का भी ह्रास हो गया। तब पञ्जाबी, हिन्दी, गुजराती, मराठी और बंगला आदि का युग आरम्भ हो गया।

३५५. द्राविड़ अपभ्रंश—सुदूर दक्षिण में तमिल, तेलुगु, कन्नड और मलयालम भी अपना विस्तार कर रही थीं। शङ्कर और रामानुज की पवित्र भूमि में संस्कृत का प्रेम न्यून होने लग पड़ा था और जातिभेद की कड़ी लहर के कारण संस्कृति का ध्यान ओझल होने लगा।

सत्ताईसवाँ अध्याय

भारतीय कलाएँ

३५६. भारतीय संस्कृति में शिल्प-कला का स्थान बड़े महत्त्व का रहा है। वास्तु-कला, नगर-निर्माण कला, मूर्तिकला, चित्रकला, आदि अनेक कलाएँ यहाँ प्रसिद्ध रही हैं।

३५७. वास्तुशास्त्र—वास्तुशास्त्र के अठारह उपदेष्टा मत्स्य पुराण अध्याय ३५२ में उल्लिखित हैं। उनके नाम थे—भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, मय, नारद, नग्नजित्, विशालाक्षशिव, पुरन्दर, कुमार, नन्दीश, शौनक,गर्गवासुदेव, अनिरुद्ध, शुक्र और बृहस्पति।

वास्तुकला का सम्बन्ध भूमि की पहचान, गृह-निर्माण आदि से है। शास्त्रकारों का मत है कि नदी, श्मशान, शैल (शिलाओं वाली पथरीली पहाड़ियों), तथा वनों के निकट घर के लिए भूमि न देखें। ऊसर भूमि और आनूप (गीली) भूमि भी निषिद्ध है।

इन में से विश्वकर्मा और मय का वर्णन पहले हो चुका है। नग्नजित् गान्धार का राजा था। उसका स्मरण शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। उसके कारण गान्धार प्रस्तर-कला संसार में अति ख्याति को प्राप्त हुई। वासुदेव अथवा कृष्ण ने वास्तुविद्या के आधार पर ही द्वारका के पुराने खण्डरों का उद्धार करके उन्हें यादवों के लिए अभेद्य दुर्ग बना दिया।

अनिरुद्ध भगवान् कृष्ण का पुत्र था। उसने यह विद्या अपने पिता से प्राप्त की।

इन सब आचार्यों के ग्रन्थ अब लुप्तप्राय हैं।

गृह-निर्माण त्रेता के आरम्भ से प्रवृत्त हो गया था। वेद में सहस्र-स्थूण राज-प्रासाद का वर्णन है। मौर्य सम्राट् अशोक के ऐसे राज-प्रासाद का वर्णन चीनी यात्रियों ने किया है। मनु और वाल्मीकि के काल में भव्य-भवन बनते थे। मनु ने अयोध्या नगरी स्वयं बनाई थी। उसकी योजना भव्य थी। भृगु, मय और शुक्र की कृपा से मैसोपोटेमियां, मिश्र और ईरान आदि में गृह-निर्माण होने लग पड़े थे। प्राचीनकाल में ये सारे देश इस कला में भारत के समान निपुण थे। महाभारत-काल में दुर्योधन के भवनों, जरासन्ध के प्रासादों और द्वारका के यादवों के विमानों (ऊँचे घरों) का वर्णन मिलता है। प्राचीन

काल के घर ऐसे होते थे जहाँ उदय होते हुए सूर्य की रश्मियां पूर्णतया (=भूरिश्रृङ्ग गावः) पहुँचती थीं। अर्थात् घर पूर्वाभिमुख होते थे। घर अनेक भूमियों (मंजिलों) के होते थे। बहुत गरम भागों में साधारण घर मट्टी के होते थे। मट्टी के घर गरमी से बचाते हैं। गृहस्थ कहते ही उसे थे, जो घर में रहे। कोई परिवार विना घर न था। वेद की आज्ञा है कि—मौज करते हुए अपने घरों में रहो। इति।

आज के समान प्राचीन दिनों में अनेक आर्य परिवार अपने निजी घरों के विना न थे।

उसी काल के मोहेंजोदरो और हड़प्पा के मकानों का भी अब पता लग गया है। उनमें पानी निकलने के लिए नालियों का सुप्रबन्ध था।

३५८. नगर—पहले लिखा गया है कि अयोध्या-नगरी मनु-निर्माता है। अयोध्या के पश्चात् सारा भारत नगर-नगरियों और पुर-पुरियों से भर गया। नगर एक विशेष नियम से बसाए जाते थे। नगर लम्बे अथवा चतुरस्र होते थे। कहीं कहीं नगर वर्तुल (वलयाकृति, गोल) भी होते थे। नगरों की शोभा प्रपा, मण्डप,. कासार और कानन आदि से बढ़ती थी। नगरी के मध्य में मन्दिर होता था। मन्दिर के ऊपर उठा हुआ कलश वा चषक (=प्याला) होता था। आज भी अनेक पुराने मन्दिरों पर वही चषक दिखाई देता है। राजधानी में मन्दिर के पास राज-प्रासाद होता था। नगरों को चारों ओर से प्राकार घेरता था। उसमें द्वार रहते थे। ये द्वार गजों आदि से अभेद्य और मनुष्यों से अलंघ्य होते थे।

यूनानी लेखक अरायन लिखता है कि नदी-तटों तथा निम्न-भूमियों पर बसे नगर मिट्टी वा पकी हुई ईंटों के होते थे। राजगृह की पुरानी बस्ती के भग्नावशेष अब भी मिलते हैं। ये पत्थर के बने थे, अतः काल के प्रकोप से कुछ-कुछ बच गये हैं। पाञ्चाल देश की राजधानी अहिच्छत्र थी। उसकी खुदाई गत कई वर्ष में हुई है। इसका प्राकार जो पकी ईंटों का था, ४० से ५० फुट ऊँचा था।

बार्हुत, साञ्ची, अमरावती और मथुरा आदि के द्वारों पर इस समय भी राजगृह, श्रावस्ती, वाराणसी, कपिलवस्तु और कुशीनगर की पुरियों के रूप उत्कीर्ण हैं। उनसे पुराने नगरों का कुछ रूप अनुमानित हो सकता है।

३५९. मूर्ति-कला अति प्राचीन काल से भारत में मूर्तिकला भी उन्नत थी। बहुत पुराने काल में इन्द्र आदि देहधारी देवों की मूर्तियाँ बनती थीं। प्रत्येक देव की मूर्ति अपना विशिष्ट आकार-प्रकार रखती थी। इसका

सविस्तर उल्लेख वराहमिहिर ने अपनी बृहत्संहिता में किया है। देवों के वाहन भी होते थे। उनका स्पष्टीकरण भी मूर्ति-शास्त्रों में किया गया है।

देवकुल—उत्तर-काल में राजाओं की मूर्तियाँ भी बनने लगीं। उन पर राजाओं के नाम अंकित रहते थे। भास-कवि के प्रतिमा-नाटक में एक देवकुल का उल्लेख है। उसमें अयोध्या के सूर्य-वंश के दिवंगत राजाओं की प्रतिमाएँ रखी हुई थीं। तुरुष्क-राज कनिष्क के कुल का एक ऐसा देवकुल था। उसमें रखी कनिष्क की एक प्रतिमा पुरातत्त्व विभाग को मिल चुकी है। वैशेषिक शास्त्र पर व्योमशिवाचार्य द्वारा लिखी गई व्योमवती टीका में श्रीहर्ष के देवकुल का उल्लेख है।

अजन्ता की गुफाओं पर नर-नारियों के अप्रतिम सौन्दर्य के नमूने भारतीय-गौरव का प्रमाण हैं।

देवों, राजाओं और साधारण नर-नारियों के अतिरिक्त पशुओं की मूर्तियाँ भी बनाई जाती थीं। मौर्य-काल की वृषभ, सिंह और हस्ति प्रतिमाएं कला का सुन्दरतम नमूना हैं। शुङ्ग-सम्राट् पुष्यमित्र आदि के अश्वमेध के घोड़े की मूर्तियाँ भी देखने योग्य हैं।

दक्षिण के पल्लव और पश्चिम के राष्ट्रकूट राजाओं ने भी मूर्ति-कला को सजीव रखा। उनके काल की वराह आदि की मूर्तियाँ दर्शनीय हैं। भारतीय मूर्तिकला का प्रभाव कम्बोज और बालीद्वीप आदि तक पहुँचा था। कम्बोज के अङ्कोर मन्दिर पर समुद्र-मथन के दृश्य की विचित्र मूर्तियाँ बनी हैं। उन्हें देखकर वाह-वाह का शब्द मुँह से निकलता है।

भारत में यक्ष-यक्षिणियों की मूर्तियाँ भी अनेक स्थानों से मिली हैं। इनका प्रकार अपने ढंग का निराला है। प्रत्येक प्रान्त से मिली मूर्ति पर प्रान्तीयता की छाप है। पर मूल-रूप अनायास पहचाना जाता है। मथुरा के भुतेसर-स्तम्भ की यक्षिणियों की मूर्तियाँ विभिन्न स्थानों से मिली हैं।

गणेश की भी अनेक मूर्तियाँ विभिन्न स्थानों से मिली हैं। कहीं पर लम्बोदर, कहीं पर विचित्र-सूण्ड-युक्त ये मूर्तियाँ पुरानी-कला का श्रेष्ठ-निदर्शन हैं। उदरे-मुख कबन्ध की भी अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। इसका पूरा अभिप्राय अभी तक अज्ञात रहा है।

३६०. बौद्ध-मूर्तियाँ——बुद्ध-भक्त आरम्भ से अपने आराध्य देव की मूर्तियाँ बनवाने लग पड़े थे। लाहौर, सारनाथ, नालन्दा आदि प्रसिद्ध स्थानों के अद्भुतालयों (=संग्रहालयों) में बुद्ध की मूर्तियों का अच्छा संग्रह है। बुद्ध के जीवन की प्रायः सारी घटनाएँ इन मूर्तियों में दिखाई गई हैं। बुद्ध-जन्म के

दृश्य सजीव रूप में सामने आते हैं । बुद्ध की तपस्या और ज्ञान-प्राप्ति की मूर्तियाँ सर्वत्र मिलती हैं । बुद्ध की मूर्तियाँ ईराक-अरब तक फैली हुई थीं । बुद्ध शब्द का विकृत-रूप बुत है । इसी कारण अरबी-फारसी लोग 'बुत-परस्त' शब्द मूर्ति-पूजक के लिए प्रयुक्त करते हैं ।

हम लिख चुके हैं कि नग्नजित् वास्तु-शास्त्र के अठारह उपदेष्टाओं में से एक था । वह गान्धार का राजा था । उस की कला का प्रभाव चिर-काल तक उस देश में रहा है । तदनुसार गान्धार और उसके साथ के प्रदेशों में से जो बौद्ध-मूर्तियाँ मिली हैं, उन पर भी नग्नजित् की कला की छाप है । वर्तमान लोग उस प्रकार की मूर्तियों को गान्धार-कला की मूर्तियाँ कहकर उनका परिचय देते हैं ।

३६१. जैन-मूर्तियाँ—इस कला में जैन लोग भी पीछे नहीं रहे । उनके प्रायः सभी तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ कभी बनती रही होंगी । उनमें से अनेक अब भी प्राप्त हो चुकी हैं । जैन-तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ सात्विकता और प्रशान्त-भाव के व्यक्त करने में अतिश्रेष्ठ हैं । कलाकार इस भावभंगी को पूर्णतया स्पष्ट कर सके । जैन-मन्दिर इन मूर्तियों से जगमग करते हैं ।

३६२. धातु-मूर्तियाँ—प्रस्तर मूर्तियों के साथ-साथ धातुओं की मूर्तियाँ भी प्राचीन काल से बनती चली आई हैं । कांस्य आदि धातुओं की ऐसी मूर्तियाँ भी भारत के भिन्न-भिन्न भागों से मिली हैं । उनमें भी कला का प्रदर्शन कला-विशेषज्ञों को मान्य हुआ है ।

३६३. स्तूप—स्तूप उस इमारत को कहते हैं, जिसके ऊपर चषक होता है । इमारत पक्की ईंटों वा पत्थर की होती है । बुद्ध ने अपने शिष्य आनन्द को आदेश किया था कि उसकी अस्थियों के ऊपर चतुष्महापथ पर एक स्तूप बनाया जाए । यह स्तूप वैसा ही हो जैसा चक्रवर्ती सम्राट् की अस्थियों और राख पर बनाया जाता है । निश्चय ही स्तूप बनाने की प्रथा प्राग्बौद्ध-काल से चली आ रही थी । बहुधा चैत्य-भवनों के अन्दर भी स्तूप बनाये जाते थे ।

बहुत पुराने स्तूप अण्डाकार थे । उन के ऊपर छत्र होता था । राजस्थान में यही छत्र मृत्पुरुषों की अस्थियों पर छतरी नाम से बनाए गए । अण्ड के चारों ओर प्रदक्षिणा-पथ होता था । भूपाल राज्य में सांची का महत्स्तूप आज भी विद्यमान है । इसे अशोक सम्राट् ने बनवाया था और समय-समय पर इस को बढ़ाया गया । यह छत्राकार है । इसके ऊपर समतल चतुरस्र छोटी सी हर्म्यंका (=चौतरा) है ।

बुद्ध की अस्थियों पर पुरुषपुर (पेशावर) के पास कनिष्क का सारे एशिया में प्रसिद्ध स्तूप था। चीनी-यात्री इसका आँखों देखा वर्णन करते हैं। इसमें १३ भूमियाँ (मंजिलें) थीं। उस पर लोहे का स्तम्भ था। उस पर ताम्रछत्र थे। इसकी ऊँचाई ६३८ फुट थी। जम्मूद्वीप का यह सबसे ऊँचा मीनार था। पेशावर के आस-पास गान्धार प्रदेश में और स्तूप भी मिलते हैं।

दक्षिण में भी बहुत स्तूप बने। इनमें से अधिक प्रसिद्ध अमरावती, भट्टी, प्रौलू, जग्गय्यपेठ, घण्टाशाल और नागार्जुनी कोण्ड आदि हैं। ये सब टूट-फूट चुके हैं। स्तूपों की कारीगरी भारतीय मस्तिष्क की उपज है।

३६४. गुफाएँ—प्राचीन भारत में बड़े-बड़े शैल काटकर गुफाएँ बनाई गईं। गुफाओं के अन्दर लम्बे-चौड़े चैत्य-भवन बनाये गए। उनके आस-पास छोटे कमरे भिक्षुओं के निवास के लिए बने। ये गुफाएँ बुद्ध-काल से पहले से बनती चली आई थीं। बिहार प्रान्त में गया के समीप बराबर शैल की प्राचीन गुफाएँ पत्थर काटकर बनाई गई हैं। इनमें एक गुफा लोमश ऋषि की है। यह मौर्य-काल में ठीक की गई थी। उसी के साथ एक सुदामा गुफा है। इसे अशोक सम्राट् ने आजीवक साधुओं के लिए बनवाया था। सुदामा और लोमश ऋषि की गुफाओं में समाज-भवन अथवा मण्डप हैं। इनमें सत्संग होता था।

इस से उत्तर-काल की गुफाएँ अजन्ता, बेदसा, नासिक और कार्ले में मिली हैं। नासिक की गुफाओं को वहाँ के लोग पाण्डुलेना[1] गुफाएं कहते हैं। इनमें शिल्प का श्रेष्ठ प्रदर्शन मिलता है। इनके ऊपर अनेक राजाओं ने अपने शासन उत्कीर्ण कराए। सातवाहन राजाओं के शासन अजन्ता और नासिक गुफाओं पर मिले हैं।

सांची और नासिक के पूर्वोक्त स्थान हमने स्वयं देखे हैं।

३६५. संघाराम—संघाराम अथवा विहार भिक्षुओं के निवास का काम देते थे। जैन और बौद्ध दोनों सम्प्रदायों ने ऐसे अनेक संघाराम बनवाए। उड़ीसा प्रान्त के भुवनेश्वर के समीप की उदयगिरि और खण्डगिरि पर महाराज खारवेल के समय की जैन गुफाएं हैं। उनके आस-पास के संघाराम जैन-धर्म के विस्तार का पता देते हैं।

३६६. जयस्तम्भ—प्राचीन राजा अपने जयस्तम्भ बनवाया करते थे। यह प्रथा देवयुग से चल पड़ी थी। विष्णु के जयस्तम्भ कभी अफ्रीका के उत्तर

१. लयनं सुगतालयः। अर्थात् बुद्ध के लिए बनाया घर। इस प्रकार पाण्डुलेना पदों में पाण्डु पद का अर्थ विचारणीय है।

में भी थे। अति पुराने जयस्तम्भ इतिहास में वर्णित हैं पर उनके अवशेष मिले नहीं। अनेक स्थानों में ये स्तम्भ पत्थर के एक ही टुकड़े के हैं। संकसिया, सारनाथ और साँची आदि से ऐसे जयस्तम्भ मिले हैं। सम्राट् अशोक ने अनेक शासन-स्तम्भ खड़े कराए। उन्हीं पर सिंह आदि की मूर्तियाँ स्थापित हैं। धौली के स्तम्भ पर हस्ती की मूर्ति है। यह अशोक की शान्त-मुद्रा का प्रतिबिम्ब है। पहले लिखा जा चुका है कि इन मूर्तियों पर वज्रलेप किया हुआ है। इसकी विधि इस समय लुप्त हो चुकी है। मौर्य-काल के स्तम्भ चुनार के पत्थर से घड़े गये हैं और उन पर भी चमक वाला वज्रलेप लगा है। चुनार इस कला का केन्द्र रहा होगा और मौर्य सम्राट् उसके संस्थापक होंगे।

वर्तमान काल के अनेक लेखकों का विचार है कि मौर्य काल की यह कला ईरानी सम्राटों के प्रभाव से प्रभावित थी। हम इस बात को स्वीकार नहीं करते। जयस्तम्भ महाभारत में भी उल्लिखित हैं। शिल्प-शास्त्र में वज्रलेप आदि का भी विशद वर्णन है। अतः मौर्यों के स्तम्भ प्राचीन भारतीय प्रथा का अनुकरण करते थे।

३६७. द्वार—महान् स्तम्भों पर शिलाएँ रखकर अनेक द्वार बनाये जाते थे। ऐसे द्वार भार्हुत, बोध गया और सांची आदि के पास मिले हैं। इन द्वारों की ऊपर की शिलाओं पर अनेक मूर्तियाँ उत्कीर्ण रहती थीं।

चित्र-कला

३६८. चित्रकला पुराने भारत की देन है। विष्णुधर्मोत्तर में चित्र-शास्त्र के अनेक रहस्य उल्लिखित हैं। कभी प्रजापति-प्रोक्त 'चित्रकर्म' शास्त्र सुलभ था। इसी प्रकार विवस्वान् का 'आदित्यमत' भी सर्वत्र ज्ञात था। देवल के धर्मसूत्र में चित्र-कर्म का संकेत किया गया है। तत्पश्चात् महाभारत में ऐसे भवन का उल्लेख है जिसकी भित्तियों पर चित्र चित्रित थे। बौद्ध ग्रंथों में चित्रों के अनेक संकेत हैं। महाकवि कालिदास ने शकुन्तला नाटक में चित्रकला का वर्णन किया है मूल रंग और रंगों के मिश्रण प्रचलित रहे थे। चित्र शास्त्र के अनेक पारिभाषिक शब्द संस्कृत वाङ्मय में मिलते हैं। इस कला का एक रूप राजपूत काल तक विद्यमान था। काँगड़ा प्रदेश में भी यह कला पर्याप्त प्रसिद्ध रही है। चालुक्य वंशीय सोमेश्वर ने ग्यारहवीं शती के अन्त में अभिलषितार्थ चिन्तामणि नाम का एक ग्रन्थ अनेक विद्याओं और कलाओं के सम्बन्ध में लिखा था। उसमें चित्रकला पर भी प्रकाश डाला गया है।

अठाईसवाँ अध्याय

प्रान्तीय भाषाओं की उत्पत्ति और भक्ति-धारा

(संवत् १२००—१८०० तक)

३६९. १२०० के समीप कलिकाल-सर्वज्ञ जैनाचार्य हेमचन्द्र जीवित था। उसके काल में अपभ्रंश भाषा का अस्तित्व मिटकर प्रान्तीय भाषाओं का आरम्भ हो रहा था। गुजराती और मराठी अपने वर्तमान रूप की ओर अग्रसर हो रही थीं। उत्तर में पञ्जाबी, हिन्दी, व्रज और अवधी का रूप बनना आरम्भ हो गया था। साहित्य-रचना अल्पाल्प होती जा रही थी। काशी, नदिया, पूना आदि में कहीं-कहीं ही पुरानी विद्याओं के केन्द्र अवशिष्ट थे।

३७०. इस्लामी-राज्य शनैः शनैः अपना विस्तार कर रहा था। मुसलमान राजाओं और नवाबों के दरबार एक मिश्रित घटिया संस्कृति का केन्द्र बनने लगे। पुरानी संस्कृति को राजाश्रय मिलना बन्द हो रहा था। मसजिदों में अरबी और फारसी का पठन-पाठन प्रचलित किया जा रहा था। सरकारी नौकरी के इच्छुक यही भाषाएँ अपनाने लगे। गो-ब्राह्मण की रक्षा न्यून हो गई थी। जब कभी कोई मुसलमान-शासक मतान्ध हो जाता था तो देशवासियों को अनेक दुःख सहने पड़ते थे।

३७१. भक्ति-धारा—ऐसी परिस्थिति में भारत में भक्ति-धारा का प्रवाह अधिक हुआ। कृत-युग के अन्त के सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, सनत्सुजात आदि मुनि भक्ति-मार्ग के प्रदर्शक थे। उपनिषदों में इस मार्ग का यत्र-तत्र उल्लेख है। गीता में भी भक्ति-योग का व्याख्यान है। भगवान् कृष्ण भक्ति-योग को सांख्य-ज्ञान का साथी समझते थे। पाञ्चरात्र और एकायन-मत भक्ति-मार्ग के ही रूप थे। योग का एक प्रकार भक्ति-योग था। योग-सूत्रों में पतञ्जलि ने भक्ति-विशेष को ईश्वर-प्राप्ति का एक साधन कहा है। इस भक्ति में आराधक अपना स्वत्व नष्ट कर देता था। वह अपने स्वामी के प्रेम की नदी में निमज्जित रहता था। उसे कर्म-फल की आकांक्षा अणुमात्र भी नहीं रहती थी।

दक्षिण में रामानुज ने भक्ति-मार्ग का उपदेश कर दिया। वह उपदेश महाराष्ट्र में पहुँचा। वहाँ अनेक भक्त उत्पन्न हुए। वहाँ से भक्ति का प्रवाह

पञ्जाब और मध्य भारत में पहुँचा। रामानन्द, कबीर, नानक, चैतन्य, सूरदास और तुलसीदास इसी मार्ग के पुजारी बने। मीरा ने भी इसी में सन्तोष प्राप्त किया। भारत में सब ओर भक्तों की सुनाई थी।

इन भक्तों में से रामानन्द और तुलसी संस्कृत शास्त्रों के अच्छे ज्ञाता थे। शेष यद्यपि संस्कृत नहीं पढ़े थे, पर उन्होंने शास्त्रों का उपदेश अवश्य सुना था। उनके उपदेश इस बात का परिचय कराते हैं। कबीर के विषय में नहीं कह सकते, पर अन्य प्रायः सब ही शब्द-प्रमाण के मानने वाले थे। तुलसी तो निगमागम के परम श्रद्धालु थे। उनकी प्रतिक्रिया के कारण ही वर्णाश्रम-मर्यादा कुछ-कुछ आदर पा रही थी। उन्होंने रामचरित-मानस में अनेक तत्सम शब्दों के प्रयोग द्वारा संस्कृत की परम्परा को थोड़ा-सा बनाए रखा।

भारतीय संस्कृति में इस समय भी चमत्कार था, एक आकर्षण था। राजाश्रय के विना भी यह जीवित थी। इसी काल में अब्दुल-रहीम-खानखाना और रसखान ऐसे सहृदय लोग कृष्ण-भक्ति की ओर झुके। उनके वचन उनके हृदय की प्रीत के द्योतक हैं। बादशाह जहाँगीर हिन्दू सन्तों के दर्शन से अपने मन की प्यास मिटाता था। दाराशिकोह ने उपनिषदों का फारसी अनुवाद किया। वह उपनिषदों की प्रशंसा में अनेक बातें लिखता है। उसी के फारसी-अनुवाद द्वारा उपनिषद योरोप में पहुँचे। प्रसिद्ध-विद्वान् अंक्वेटिल ने उस फारसी अनुवाद का लैटिन भाषा में अनुवाद किया।

३७२. भाषा-क्षेत्र में भक्तों की देन—भक्त-निकाय मध्य देश (उत्तर-प्रदेश) में बढ़ रहा था। मध्य देश में बनारस का केन्द्र अभी भी भारतीय संस्कृति का केन्द्र था। वहाँ देश-देश के श्रद्धान्वित छात्र शास्त्र पढ़ने आते थे। वहाँ यात्री भी सदा पहुँचते थे। ये सब भाषा अर्थात् हिन्दी भाषा द्वारा ही अपना काम चलाते थे। उधर मेरठ, बुलन्दशहर और सहारनपुर की खड़ी बोली भी अपना प्रभाव बढ़ा रही थी। हरद्वार का तीर्थ-स्थान अपना प्रभाव बनाये हुए था। वहाँ के पण्डा लोग हिन्दी-भाषी थे। भक्त और सन्त लोग बनारस और हरद्वार में आते-जाते रहते थे। इन सन्तों की भाषा हिन्दी बन गई थी। फलतः भारत की सब दूसरी बोलियों की अपेक्षा हिन्दी अधिक प्रिय होने लगी। सन्तों का इस विषय में बड़ा योग है। बनारस के संस्कृत पण्डित हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्द बोलते रहते थे। हिन्दी ने इस कारण नया रूप धारण कर लिया। यह हिन्दी संस्कृति के अति समीप आने लगी। हिन्दी में अभी साहित्य तो नहीं था, पर बोल-चाल के क्षेत्र में इसका आधिपत्य बढ़ रहा था।

सिख-मत—पूर्व श्री गुरु नानक जी का नाम स्मरण किया गया है। उनकी परम्परा में दस गुरु हुए। दशम गुरु श्री गोविन्दसिंह जी थे। ये सब गुरु गो-ब्राह्मण रक्षक, योगनिष्ठ और वेद-पूजक हुए। उन्होंने आर्य संस्कृति के गौरव को बनाये रखने का यत्न किया। वे वेद को ईश्वर-निर्मित मानते थे। यथा—ओङ्कार वेद निर्मये। गुरु गोविन्दसिंह जी ने ईश्वर भक्ति के आनन्द में कहा—मुझे ईश्वर न समझो। "मैं तो परम पुरुष की दासा।" गुरुओं ने नाम की महिमा गाई।

इनसे पृथक् होकर एक शाखा उदासीन साधुओं की हुई। उसमें संस्कृत के बड़े-बड़े पण्डित और विरक्त साधु विक्रम की बीसवीं शती में भी हुए हैं। उनका चरित्र उज्ज्वल रहा है।

३७३. देवनागरी-लिपि—अशोक के काल में ब्राह्मी-लिपि सारे भारत में प्रचलित थी। शनैः शनैः इस लिपि का रूपान्तर हो रहा था। गुप्तकाल में यह लिपि थोड़ी-सी बदलकर गुप्त-लिपि के रूप में प्रसिद्ध हुई। इसका विस्तार खोतान तक हो गया था। दक्षिण में भी गुप्तलिपि कुछ-कुछ प्रचलित थी। गुप्त-लिपि का रूप भी थोड़ा-थोड़ा बदलता गया। तब संवत् ९०० के आस-पास वर्तमान नागरी-लिपि का रूप सामने आया।

संस्कृत के ग्रंथ पहले ब्राह्मी और तत्पश्चात् गुप्त-लिपि में लिखे और प्रतिलिपि किये जाते रहे। बौद्ध, जैन और वैदिक सब ही इसी लिपि को अपनाते थे। जब इस लिपि के आधुनिक देवनागरी रूप का प्रादुर्भाव हुआ तो सब ने इस रूप को अपनाया। भारतवर्ष की अधिकांश अतुलनीय ग्रन्थ सम्पत्ति इस लिपि में मिलने लगी। प्राकृत, अपभ्रंश और देशी भाषाओं के ग्रन्थ भी इसी लिपि में लिखे जाने लगे। तब जब हिन्दी के युग का उदय हुआ, तो हिन्दी ने भी इसी लिपि को अपनाया। इस लिपि के अपनाने के कारण भी हिन्दी भाषा अधिक प्रिय बनी। रामचरितमानस ने हिन्दी को बहुत अधिक प्रिय बनाया।

३७४. अक्षुण्ण आर्य गौरव

सैंकड़ों वर्ष के विदेशी-शासन के नीचे भारत दलित हुआ। निरीह-प्रजा ने अनेक कष्ट सहे। फिर भी इस अंधकार की रात्रि में प्रखर प्रकाश रश्मियाँ अपना प्रभाव निरन्तर बनाए रहीं, और आर्य-संस्कृति बची रही। इसका कारण अन्वेषणीय है।

वृथाभिमान अथवा अतिमान पराभव का मुख है, परन्तु आत्मगौरव और युक्त आत्मसम्मान जातियों के जीवन का कारण होता है। अद्वितीय वैदिक

और आर्षज्ञान की निधि आर्य-जाति उचित ही श्रेष्ठ थी। इस श्रेष्ठता का अभिमान कभी प्रत्येक भारतीय में था। यही इसके जीवन का कारण रहा है। इस जाति के नष्ट न होने का यह प्रधान आधार है।

(क) आर्य गौरव भाव स्वायम्भुव मनु के काल में—यह आर्य गौरव का भाव स्वायम्भुव मनु के काल से चला आ रहा है। वह लिखता है—"इस देश में उत्पन्न हुए अग्रजन्मा ब्राह्मणों से पृथ्वी के सब मानव अपना-अपना चरित्र सीखें।"

संसार-मात्र को चरित्र सिखाने वाले यदि अपने पुनीत-चरित्र का गौरव समझें तो क्या बुरी बात है।

(ख) रामायण, अयोध्याकाण्ड में कई स्थानों पर आर्यमार्ग का उल्लेख है। सुन्दरकाण्ड में वाल्मीकि लिखता है कि रावणगृह में भी सीतादेवी आर्य-पथवर में ठहरी हुई थी—

(ग) योगेश्वर कृष्ण अर्जुन के क्षात्र-विरुद्ध तथा वर्ण-मर्यादा के उच्छेदक भाव पर कहते हैं—

यह उदासीनता का भाव "अनार्यजुष्ट" है। अर्थात् आर्यों का भाव और आर्यों की मर्यादा संसार की दूसरी जातियों की अपेक्षा अधिक ऊँची रही है।

(घ) भगवान् व्यास आर्य-गौरव के विषय में लिखते हुए कहते हैं—आर्य लोग भाषा में म्लेच्छपन नहीं करते। अर्थात् वे संसार की एकमात्र साधुभाषा संस्कृत बोलते हैं।

(ङ) धर्मसूत्रों के रचयिता लिखते हैं कि भारत के नियमानुकूल चलने वाले लोग 'लोभ, संचय और स्पर्धा से मुक्त हैं।'

(च) मौर्य युग का महामन्त्री चाणक्य लिखता है—आर्यों में कभी दास-भाव नहीं हुआ। संसार की दूसरी जातियों में दास-प्रथा प्रचलित हो चुकी है।

(छ) चीनी यात्री ह्यूनसांग ने स्वायम्भुव मनु और श्रीकृष्ण के अनेक युग पश्चात्, जब ब्राह्मण अपने अति पुरातन दिव्य रूप से नीचे था, तब भी उसका गौरव अनुभव किया। वह लिखता है—भारत के परिवार वर्णों में विभक्त हैं। उनमें से पवित्रता और उच्चता में ब्राह्मण विशिष्ट हैं। परम्परा में इस वर्ण का नाम इतना उज्ज्वल है कि देशभेद का प्रश्न न करके, लोग सारे भारत देश को ब्राह्मणों का देश कहते हैं। इति।

(ज) आर्यों की कीर्ति दूर तक फैली हुई थी। मुस्लिम ऐतिहासिक अलमासूदी (लगभग सं० ६६०) लिखता है—"मानव जातियों का इतिहास

लिखने वाले सम्पूर्ण अच्छे ऐतिहासिक इस विषय में सहमत हैं कि संसार के अति प्राचीन काल में हिन्दू ऐसे हुए हैं जो शान्ति और ज्ञान का पूरा लाभ उठाते रहे हैं।" हिन्दुओं के श्रेष्ठतम विद्वान् कहते हैं—"हम से संसार का आरम्भ हुआ और हम प्रलय-काल तक रहेंगे। हम में सर्वोच्चता, सर्वविशिष्टता और सब प्रकार से पूर्णता है। संसार के जीवन में जो भी मूल्यवान् और आवश्यक है उसका श्रीगणेश हम से हुआ है। संसार की कोई जाति हमारा विरोध न करे। जो कोई हमारा विरोध करेगा उसके भाग्य में भागना अथवा पराजय होगा।"

(ऋ) आर्य गौरव का अलबेरूनी को आभास—बहुत दिन की बात नहीं। नौ सौ वर्ष से कुछ पहले की घटना है। खीवा वासी मुहम्मद-बिन-अबूरिहां-अलबेरूनी अपनी अरबी पुस्तक अलकिताब-उल-हिन्द में लिखता है—

"·········उन (हिन्दुओं) के जातीय जीवन की कुछ विशेषताएं जो उनमें गहरी निहित हैं, प्रत्येक (विदेशी) के लिए स्पष्ट हैं,·········हिन्दू विश्वास रखते हैं, उनके देश से बढ़कर कोई देश नहीं, उनकी जाति के समान कोई जाति नहीं, उनके राजाओं के समान कोई राजा नहीं, उनके धर्म के समान कोई धर्म नहीं, उनके ज्ञान के समान कोई ज्ञान नहीं। इति।

अलबेरूनी के काल में आर्यों का जो विश्वास था वह सौ दो सौ वर्ष में नहीं बना था। उसका आधार वह इतिहास था जो सृष्टि के आदि से चला आ रहा था। उस काल के आर्य यद्यपि हीन दशा में आ चुके थे, परन्तु उनका आत्मगौरव का भाव अक्षुण्ण-रूप से स्थिर था। विदेशी मुसलमान अलबेरूनी को यह बात अच्छी नहीं लगी।

(ॠ) मुगल सम्राट् अकबर का मन्त्री विद्वान् अब्बुलफजल हिन्दू चरित्र के विषय में आईन-ए-अकबरी में लिखता है—

हिन्दू धार्मिक, मिलनसार, विदेशियों के प्रति नम्र, स्वयं प्रायश्चित्त करने वाले, न्यायप्रिय, संसार-त्याग के भाव से युक्त, व्यवहार-कुशल, कृतज्ञ, सत्य की प्रशंसा करने वाले और अपरिमित कर्तव्य-परायण होते हैं। उनका शुद्ध चरित्र दुःख के समय सबसे अधिक चमकता है। उनके योद्धा रण-भूमि से भागना जानते ही नहीं। युद्ध में जब वे अपने विजय में सन्देह करते हैं, तो वे घोड़ों से उतर पड़ते हैं, और शूरता से लड़ते हुए प्राण त्याग देते हैं। वे अपने जीवन की परवाह नहीं करते। वे अपने अध्यापकों और गुरुओं का बड़ा आदर करते हैं। ईश्वर-परायण होने के लिए वे अपने जीवन की परवाह नहीं करते। वे एकेश्वर में विश्वास रखते हैं और यद्यपि वे मूर्तियों

का बड़ा आदर करते हैं, पर वे पत्थर-पूजक नहीं, जैसा अज्ञानी उन्हें समझते हैं। इति।

अन्यत्र वह लिखता है—

हिन्दुओं में देवता हैं और दानव भी। इति।

(ट) आर्य गौरव मनूची की दृष्टि में—अलबेरूनी के सात सौ वर्ष पश्चात् इटली के वीनिस नगर का निवासी निकोला मनूची भारत में आया। वह मुगल राजा जहाँगीर की सभा में रहा। वह लिखता है—

"इन हिन्दुओं की प्रथम भूल इस विश्वास में है कि संसार में वे अपने को एकमात्र ऐसा समझते हैं,जिनमें कोमलता, शिष्टाचार,स्वच्छता अथवा नियमित व्यापार है। वे दूसरी सब जातियों को और सब से बढ़कर योरुप वालों को म्लेच्छ, घृणित, मलिन और नियम-हीन समझते हैं। इति।

अपने शुद्ध-चरित्र का, अपने उच्च जीवन का, अपने ब्राह्मणों के श्रेष्ठत्व का, अपनी उच्च संस्कृति का प्राचीन आर्यों को अभिमान था। पूर्व-लिखित ग्यारह-प्रमाण इस विषय में पर्याप्त साक्ष्य हैं। वस्तुतः कभी हिन्दू-चरित्र बहुत ऊँचा था, और सारी जाति में ऐसा विश्वास था। इसी कारण गत-अन्धकार के दिनों में भी आर्य-संस्कृति की रक्षा होती आई है।

इस आत्मगौरव के भाव को अंग्रेजी शासकों की दुष्ट नीति ने नष्ट करने का भरपेट यत्न किया। उन्होंने अपने शिक्षा कार्यक्रम से इसे अभूतपूर्व हानि पहुँचाई। और इसी नाशकारिणी सरिता की देन स्वतन्त्र भारत के केवल अंग्रेजी पढ़े-लिखे शासकों को दे गए।

———

उनतीसवाँ अध्याय

वर्तमान-युग और आर्य संस्कृति

(संवत् १८०१—२०२१)

३७५. १८०० के पश्चात् भारत एक नए युग में प्रविष्ट हुआ। आर्य-गौरव के कारण हिन्दू शतियों के पश्चात् जाग रहा था। उसने मुगल साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया था। पर उसी समय भारत में एक नई शक्ति उपस्थित हो गई। संवत् १८१४ के प्लासी के युद्ध के पश्चात् अंग्रेज भारत के पूर्व के शासक हो गए। वे अपनी विकृत संस्कृति अपने साथ लाए। जो बात मुसलमानों ने भारत में आकर अनुभव की थी, वही अंग्रेजों ने भी अनुभव की। उन्होंने देखा कि भारतीय जन-साधारण और विशेषतया विद्वान् आत्मगौरव के भाव से ओत-प्रोत हैं।

(क) कर्नल विल्फर्ड ने संवत् १८६६ में लिखा—"प्रत्येक श्रेष्ठ बात को अपने साथ जोड़ने का हिन्दुओं का झुकाव सुप्रसिद्ध है। इति।

(ख) ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डाइरेक्टरों की कोर्ट के अधीन लिखता हुआ टौमस मॉरीस संवत् १८७७ में लिखता है—"वह पवित्र जाति जिसे ब्राह्मण कहा जाता है, आत्मगौरव और जातीय-सम्मान के भाव से लदी हुई है। वह अपने अति प्राचीन होने का कथन करती है। यह बात वह अभिमान से नहीं प्रत्युत अपने सर्वश्रेष्ठ ज्ञान के आधार पर कहती है।"

(ग) फिर सं० १९२६ में चन्द्रनगर के फ्रेंच न्यायाधीश लुई जैकॉलियट ने जब भारत की भूरि-भूरि प्रशंसा की और उसे संसार के मतों और सभ्यताओं का उद्गम-स्थान लिखा, तो जर्मनी में उत्पन्न और अंग्रेजी राज्य के वेतन-भोगी ईसाई अध्यापक मैक्समूलर ने उसका खण्डन किया। अंग्रेज भारत में शासन करना चाहता था। वह भारतीय गौरव की यथार्थ बात सुनकर भी घबराता था। उसने मैकाले के परामर्श के अनुसार यह यत्न किया कि भारतीय लोग अपना गौरव भूल जाएँ। एतदर्थ उसने निम्नलिखित कुछ उपाय वर्ते।

१—भारतवर्ष के इतिहास को कहानी कहा।

२—ब्रह्मा, भृगु, अत्रि, कश्यप, दक्ष, नारद, मनु, चक्रवर्ती भरत, दाशरथि राम, व्यास तथा कृष्ण सब मिथिकल=कल्पित व्यक्ति कहे गये।

३—जितने ग्रन्थ पुरातन ऋषि महर्षियों के रचित कहे जाते थे, उनके

विषय में कहा गया कि उत्तर काल में पण्डितों ने लिखकर इन्हें कल्पित ऋषियों के नाम पर मढ़ दिया है।

४. संस्कृत भाषा का महत्त्व नष्ट करने के लिए, अंग्रेजों ने लाखों, करोड़ों रुपए व्यय किए। एक सर्वथा निराधार "भाषा विज्ञान" नामक विषय पर ग्रन्थ लिखवाए। उसके प्रचार के लिए भारतीय छात्रों और अध्यापकों को इङ्गलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी और अमरीका आदि स्थानों में भेजा। संस्कृत से विकृत होकर संसार की भाषाएँ बनीं, इस सत्य को हेत्वाभासों द्वारा असत्य सिद्ध करने का यत्न किया गया और अन्ततः अंग्रेजी भाषा को भारत में प्रमुखता दी।

उसी भ्रान्ति में स्वतन्त्र भारत के अज्ञानी शासक आज भी फँसे हुए हैं।

तीन समाज—ब्रिटिश शासक कृत-संकल्प था कि भारत पर विज्ञान के नाम से योरोप की प्रधानता अंकित कर दे। ऐसी परिस्थिति में तीन विचार-धाराएँ यहाँ उत्पन्न हुईं। पहली विचारधारा राजा राममोहनराय प्रचारित ब्राह्म समाज की थी। इसका केन्द्र बंगाल था। देवेन्द्रनाथ ठाकुर के प्रवचनों वा ग्रन्थों द्वारा इस धारा का विस्तार हुआ। बंगाल के अतिरिक्त यह धारा अन्यत्र अधिक नहीं फैल पायी। इसमें अनेक मतों के मिश्रण करने की भावना काम करती है।

ब्राह्म समाज के प्रवर्तकों में केशवचन्द्र सेन बड़े उत्साही पुरुष थे। वे एक दिन में कलकत्ता के विशाल नगर में कई-कई व्याख्यान दिया करते थे। उनकी वाणी में ओज और माधुर्य था।

राममोहनराय, देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन संस्कृत के विद्वान् नहीं थे। उन्हें शब्द-प्रमाण के मूल-सिद्धान्तों का कोई ज्ञान नहीं था। उन्हें शास्त्र का सम्पर्क भी प्राप्त नहीं हुआ था। वेद-ज्ञान तो दूर की बात थी। साथ ही इन सब के ऊपर अंग्रेजी ज्ञान द्वारा प्राप्त ईसाई विचारों की पर्याप्त छाप थी। ये ईसाई-मत से बचे, पर अनेक ईसाई विचारों के नीचे दबे रहे। फलतः इनके सब प्रयासों में देशहित की स्वल्पमात्रा के साथ आर्य-गौरव की भावना का सर्वथा अभाव था।

इन्होंने एक खिचड़ी विचार-धारा का आश्रय लिया। ईश्वर-स्वरूप के अज्ञान के कारण इन्होंने ईसाई और इस्लाम की ईश्वर-पूजन विधि को भी अपने सिद्धान्तों में स्थान दिया और अन्ततः एक 'मिश्रित संस्कृति' की कल्पना खड़ी की।

यह कल्पना आगे चलकर श्री मोहनदास कर्मचन्द गांधी ने अपनाई। इसी कल्पना को इण्डियन नैशनल कांग्रेस ने अपनाया।

दूसरी धारा प्रार्थना-समाज की थी। यह भी महाराष्ट्र देश के थोड़े से भाग में सीमित रही।

शब्द-प्रमाण का अलौकिक दर्शन इनकी समझ से भी परे था। इन्होंने भी ईसाई-मत को परे रखने का यत्न किया, पर ईसाई-विचारों में से अनेक का इन पर प्रभाव पड़ा।

तीसरी धारा आर्य-समाज की थी। इसके प्रवर्तक सत्यता और स्वच्छ जीवन के अवतार और अपने रोम-रोम में देशहित की भावनाओं से युक्त योग-निष्ठ स्वामी दयानन्द सरस्वती (सं० १८८१-१९४०) थे। यह धारा उत्तर भारत में पर्याप्त फैली। इसका ध्येय आर्षग्रन्थों का प्रचार, संस्कृत विद्या का उद्धार और वैदिक मत का प्रसार था। पहली दो धाराओं की अपेक्षा यह धारा विशुद्ध रूप से भारतीय थी। इस धारा द्वारा भारत में स्वतन्त्रता प्राप्त करने की उत्कृष्ट इच्छा उत्पन्न हुई।

मथुरा का दण्डी—जिस समय अंग्रेजों के तेल और अंग्रेजों की बत्ती से होने वाले एक धुंधले प्रकाश में ब्राह्म समाज और प्रार्थना समाज के उत्साही सदस्य बंगाल और महाराष्ट्र में ईसाईयत की वेगवती तरङ्ग को थोड़ा-थोड़ा रोक रहे थे, उस समय मथुरा के नगर में विशुद्ध भारतीय स्नेह और विशुद्ध भारतीय बत्ती के उज्ज्वल प्रकाश में एक नेत्रहीन, दण्डी संन्यासी भारतीय ज्ञान की सरिता बहा रहा था। नाम था उसका विरजानन्द। उसके अन्तः नेत्र ज्ञान की रश्मियों से युक्त हो चुके थे। उसने दैवी कृपा से शब्दार्थसम्बन्ध के नित्यपक्ष को समझ लिया था। वह शब्द-प्रमाण का महत्त्व समझ चुका था। वह महान् वैयाकरण अपनी वृद्धावस्था में भी छात्रों को स्नेहमय होकर विद्या पढ़ाया करता था। उसमें क्षमता थी कि जिस प्रकार पुराकाल में दण्डी स्वामी ने अपने अपूर्व आत्मबल से सिकन्दर के अभिमान को परास्त किया था, उसी प्रकार वह अपने सूक्ष्म-ज्ञान से हीन अंग्रेजी प्रभाव को भारत से दूर करे। पर एतदर्थ कोई अलौकिक छात्र उसे मिला नहीं था।

दयानन्द सरस्वती—दैव कृपा से दण्डी दयानन्द सरस्वती के रूप में एक छात्र उसे मिल गया। संवत् १९२३-१९२५ तक दयानन्द सरस्वती ने दण्डी स्वामी से मथुरा में विद्या पढ़ी। इस अध्ययन का फ़ल था कि स्वामी दयानन्द सरस्वती को भी शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता का यथार्थ ज्ञान हो गया। यह विद्या वेदविदों के अलङ्कारभूत भर्तृहरि के निधन के पश्चात् भारत में लुप्त-

प्राय थी। हिमालय से कन्याकुमारी तक इसकी निर्मल सत्यता को समझने वाले विरले ही थे।

वेदों की ओर—इस विद्या के आधार पर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की आधार शिला रखी। "वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है", यह दयानन्द सरस्वती का सिंहनाद था, जयघोष था। दयानन्द सरस्वती का प्रभाव बढ़ता ही गया। ईसाई और इस्लाममतस्थ इस प्रभाव से भयभीत हुए।

विजय का प्रकार—धर्मविजय का स्वामी दयानन्द सरस्वती का मार्ग नया नहीं था। जिस प्रकार उद्योतकर, कुमारिल, शंकर और उदयन ने बौद्ध आदि मतों को शास्त्रार्थों के द्वारा पराजय पर पराजय दिया था, उसी प्रकार दयानन्द सरस्वती ने ईसाई और इस्लाम वालों को वादों के लिए ललकारा। दयानन्द सरस्वती का तर्क प्रबल था। दोनों मतवादी अपने अन्नदाता अंग्रेज शासकों से शिकायतें करने लगे। अंग्रेज शासक तो था ही वैदिक मत का विरोधी,षड्यन्त्र रचे गये। संवत् १६४० में स्वामी दयानन्द सरस्वती कालधर्म को प्राप्त हो गए।

आर्य-समाज—दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज की स्थापना सन् १८७५ में कर दी थी। उनके निधन के पश्चात् आर्यसमाज की नौका के कर्णधार पं० गुरुदत्त विद्यार्थी, ला० लाजपत राय, महात्मा हंसराज, महात्मा मुंशीराम (=स्वामी श्रद्धानन्द) और पं० लेखराम आदि हुए। वे सब वेद में विश्वास तो रखते थे, पर वेद की नित्यता के दर्शन के सूक्ष्म पक्ष में पूर्ण पारङ्गत नहीं थे। वे बढ़ते हुए पाश्चात्य प्रभाव को पूरा रोक नहीं सके। भारत के सब विश्वविद्यालयों में वेद का अध्ययनाध्यापन पाश्चात्य पद्धति पर हो रहा है। इस स्वतन्त्रता के युग में भी वही मूर्खता की पद्धति अपनाई जा रही है। इस पर भी जन-साधारण में वैदिक संस्कृति की जड़ सुदृढ़ होती जा रही है।

गुरुकुल पद्धति—आर्यसमाज के काम का वर्णन अधूरा रहेगा, जब तक उसकी शिक्षा प्रणालीकी गुरुकुल पद्धति का उल्लेख न किया जाए। आर्य समाज ने अनेक गुरुकुल खोले। उनमें भी उद्भिज विद्या, भौतिकी, सौर भौतिकी, कैमिस्टरी, वास्तुविद्या, भूगर्भ विद्या आदि का अध्यापन पाश्चात्य ढंग शे आरम्भ हुआ।

असफलता—इस ढंग से अध्यापन के कारण प्राचीन विद्याएं सोई रहीं। अध्यापक अनुसन्धान नहीं कर सके। अनेक अंग्रेजी पठित लोगों ने कहा, कि विद्या, अथवा विज्ञान के क्षेत्र में ढंग का भेद हो ही नहीं सकता। यह मत सर्वथा भ्रान्त मत है। जब संसार की उत्पत्ति, आरम्भ से जेरज, अण्डज,

स्वदेज और उद्भिज प्रकार से हुई है, तो उस में विकासमत के लिए स्थान नहीं रहता। इस ज्ञान को प्राप्त किए विना, विज्ञान का अध्यापन सदोष रहा। अतः वैदिक संस्कृति के उद्धार की पूरी सेवा गुरुकुल भी न कर सके। पर श्रद्धा का स्वल्प सा भाव इन्होंने भी जागृत कर ही दिया।

नमस्ते—जय सीताराम, जय श्रीकृष्ण, पालागन आदि के स्थानों में नमस्ते पद का व्यापक प्रचार संस्कृति के एकसूत्र निबद्ध होते जाने का सूचक है। अनेक लोग किञ्चित् भय के कारण नमस्कार पद का प्रयोग करने लगे हैं, पर इस पद के अर्थ के पूरे भावसूचक न होने के कारण विद्वानों में इस पद के प्रयोग का आदर नहीं हुआ। नमस्ते पद ने भारत और भारत के बाहर अपना स्थान प्राप्त कर लिया है।

नाम-शोधन—पञ्जाव और उत्तर प्रदेश में लोगों के पुराने भ्रष्ट नामों के स्थान में नामों का, उत्कृष्ट संस्कृत रूप भी उसी दिशा का सूचक है। दयानन्द सरस्वती की प्रखर प्रतिभा से वैदिक संस्कारों का रूप सम्पूर्ण भारत में स्थिर हो रहा है।

सिख मत राजनीतिक सम्प्रदाय बना—पूर्व लिखा गया है कि दश गुरु वेद मानने वाले थे। वे वेद को परम आदर की दृष्टि से देखते थे और अपने को वेद मतानुयायी ही समझते थे। वे अपने युग के हिन्दू धर्म के रक्षक थे, और आमूल चूल हिन्दू थे। उन्होंने कोई नया मत खड़ा नहीं किया था। उनके शिष्य=सिख, गुरु के सिख कहाते थे। वे खालसा पन्थ=विशुद्ध मार्ग को बताने वाले थे। पर थे वे पक्के हिन्दू।

मैकालफ—उन दिनों अर्थात् सन् १९०० के आस-पास ब्रिटिश सरकार के भारतीय सेवा-दल में एक अंग्रेज उच्च कर्मचारी मैकालफ नाम का था। उसने गुरु ग्रन्थ साहब पढ़ा और पंजाब सरकार और भारतीय सरकार को एक प्रस्ताव भेजा कि सिखों को हिन्दुओं से राजनीतिक दृष्टि से एक सर्वथा पृथक् जाति के रूप में उपस्थित करने का चक्र चलाना चाहिए। पंजाब सरकार ने कई सिख नेताओं से इस विषय में परामर्श लिया। उन नेताओं ने इस भाव का विरोध किया। पर अन्त में मैकालक का प्रस्ताव कार्यरूप में आने लगा।

ब्रिटिश सरकार की नीति—दक्षिण में अंग्रेज सरकार द्राविड़ों को हिन्दुओं से पृथक् कर रही थी। ईसाई और इस्लामी प्रचारकों को बहुविध सहायता

देकर अंग्रेजी शासन हिन्दुओं को निर्बल कर रहा था। भारतीय विश्वविद्यालयों में विदेशियों को संस्कृत के महोपाध्याय बनाकर हिन्दुओं के शास्त्र-विश्वास को विज्ञान और तर्क के हेत्वाभासों द्वारा निर्बल किया जा रहा था। उसी दिशा में सिखों की एक पृथक् जाति बनाने का भाव काम करने लगा।

इसका-प्रत्यक्ष प्रमाण—सन् १९४२-४३ के आस-पास मैं ग्रीष्म ऋतु में सोलन पर्वत पर वास करता था। एक दिन दोपहर के पश्चात् एक सज्जन मेरे पास आए। लगभग १½ घण्टा वेद-शास्त्र की बातें करके चले गए। वे जाटों आदि में प्रचार कार्य करते थे। अगले दिन वे पुनः आये और यथापूर्व चले गये। तत्पश्चात् उससे अगले दिन मैं ने उन से पूछा कि सत्य कहिए, आप के निरन्तर आने का वास्तविक कारण क्या है। वे बोले, 'पण्डित जी, आप इतिहास जानने वाले हैं। आप एक ऐसा ग्रन्थ लिख दें, जिससे प्रमाणित हो जाए कि अहीर, गूजर, राजपूत और जाट, ये हिन्दू जाति में से नहीं हैं, और कहीं बाहर से आने वाली शक आदि जातियों में से है।' मैंने कहा कि "ऐसा ग्रन्थ कानूंगो नामक लेखक ने कुछ देर हुई प्रकाशित कराया है।" वे पुनः बोले—"पण्डित जी, आप को ही लिखना चाहिए।" जब मैंने पुनः न की, तो बोले कि "यह चैक मैं आप के लिए लाया हूँ। आपको २५ सहस्र और इससे अधिक धन राशि मिलेगी।" मैं ने कहा "आप भ्रान्ति में है, आपका काम यहाँ सिद्ध न होगा। आप विपरीत पुरुष के पास आए हैं।" अन्त में मैं ने उनसे पूछ लिया कि किस सरकारी मार्ग से वे मेरे पास मेरे नाम का लाभ उठाने के लिए आये थे।

इस प्रत्यक्ष प्रमाण से अंग्रेजी सरकार की नीति का दर्शन हो जाता है।

वह सिख पन्थ जो भक्ति मार्ग और वेदान्त के उच्च तत्त्वों के प्रचार के लिए जन्मा था, जिसमें अनेक वीतराग सन्त हो रहे थे, अब राजनीतिक-दल-मात्र बनकर एक अति संकुचित विचारधारा का रूप धारण करता जा रहा है।

थियासोफिकल समाज—इनके कुछ उत्तर काल में भारत में एक और विचित्र धारा उत्पन्न हुई। इसमें अनेक मतों का मिश्रण था। इसको थियोसौफिकल सोसाइटी के नाम से पुकारते हैं। इसके जन्मदाता कर्नल ऑलकाट और मैडम ब्लेवैटस्की थे। ये पहले स्वामी दयानन्द सरस्वती के साथ मित्रभाव करके भारत में आये थे। कर्नल अल्काट बड़े सज्जन थे। श्रीमती ब्लेबैटस्की

अति चतुर महिला थी। दिसम्बर का अन्त, सन् १८८० में भारत के वाइसराय ने कर्नल और मैडम को शिमला में अपने निवास पर एक भोज दिया। तब उनके कान में वाइसराय ने ऐसी बात फूँकी कि इन दोनों का स्वामी दयानन्द सरस्वती से मतभेद बढ़ने लगा। उत्तर काल में मिसिज ऐनीवेसेन्ट इसकी कर्णधार रहीं। इसका केन्द्र-स्थान मद्रास रहा है। इन्होंने संस्कृत-विद्या की रक्षा का विशेष प्रयास किया।

अड्यार, मद्रास में इनका संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह दर्शनीय है। इन धाराओं ने ब्रिटिश शासकों के ध्येय को पूरा सफल नहीं होने दिया।

रामकृष्ण परमहंस—स्वनामधन्य, भक्तप्रवर, रामकृष्ण परमहंस मस्त पुरुष थे। उन्होंने अपने अलौकिक आकर्षण से विवेकानन्द को वैराग्य और प्रचार की दीक्षा दी।

विवेकानन्द—प्रखर बुद्धि, उत्साह के पुञ्ज, तपस्या की मूर्ति, वाग्मिता के धनी स्वामी विवेकानन्द ने देश-विदेश में आर्य संस्कृति के अनेक अंशों का अति वेग से प्रचार किया। अमरीका और इङ्गलैण्ड में ईसाई पादरियों ने उनका घोर प्रतिरोध किया। पर संन्यासी का तेज उन पर व्यापक हुआ। हिन्दू धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कराने में विवेकानन्द का बड़ा भाग है।

विवेकानन्द परम्परा—विवेकानन्द चिरजीवी नहीं हुए। उनके पश्चात् कलकत्ता के पास बेलोर में रामकृष्ण मिशन का ऐक भव्य मठ बना। उसमें रहकर तप और त्याग सीखने वाले अनेक संन्यासी भारत और विदेशों में बहुविध सेवाएं कर रहे हैं। इनका प्रचारक उत्पन्न करने का प्रकार श्रेष्ठ और स्तुत्य है। आर्यसमाज ऐसा काम नहीं कर सका।

पर इनमें संस्कृत के योग्य विद्वान् अति न्यून हैं। अतः आर्य संस्कृति की रक्षा का काम ये पूर्ण रूप से नहीं कर सकते।

गांधी मत—संवत् १९७५ से महात्मा गांधी का प्रभाव भारत में बढ़ने लगा। महात्मा गांधी ने एक नई विचारधारा चलाई। उसका आधार आधा भारतीय और आधा विकासमत-पोषक पाश्चात्य विचार था। भारतीय आधार पर उन्होंने अहिंसा और सत्य का प्रचार आरम्भ किया। यह धारा अधिकांश राजनीतिक हो गई। इस धारा में ब्राह्मसमाज की मिश्रित संस्कृति का पाठ बड़े उत्साह से होने लगा।

पूर्वोक्त सब विचार-धाराओं की भारतीय संस्कृति को यद्यपि कुछ देन-विशेष नहीं, तथापि उसकी आंशिक रक्षा सब ने न्यूनाधिक की।

फ्राईड और मार्क्स का प्रभाव—आर्य संस्कृति को मन्द और मन्दतम करने में इन दो विदेशी विचारकों का भी प्रभाव पड़ रहा है। इनके मतों का खण्डन करने के लिए वर्तमान काल का कोई समाज काम नहीं कर रहा। वस्तुतः फ्राईड का मत अति दोषपूर्ण है। वह कहता है कि जगत् का मूल काम है। यह असत्य है। काम से पहले सङ्कल्प होता है। इसीलिए मनु ने कहा था—सङ्कल्पमूलः कामो वै। २।३॥ अतः मानवता के उद्धार के लिए सङ्कल्प का पवित्र होना मूलाधार का काम देता है। इससे पता लगता है, कि फ्राईड का सारा तर्क और अनुभव सारहीन है।

मार्क्स का कथन भी निराधार है। सम्पत्ति व्यक्ति की हो सकती है और राज्य की भी और पहले तो राज्य था ही नहीं। तब सम्पत्ति मानव की निजी थी। अतः सूक्ष्म विचार के अनुसार मार्क्स का विचार भी थोथा है।

आर्य संस्कृति के प्रत्यग्र रूप को सामने लाने के लिए इन दोनों के विचारों के निराधार होने का प्रदर्शन करना इस समय अत्यावश्यक है।

अरविन्द घोष—आर्य संस्कृति के प्रति पाण्डीचरी के महामना तपस्वी, विद्वान् अरविन्द घोष की देन भी न्यून नहीं है। संस्कृत, अंग्रेजी और ग्रीक भाषाओं के अप्रतिम विद्वान् अरविन्द जी अपना दृष्टान्त आप ही थे। उनका धक्का भी वर्तमान युग में अपना काम कर रहा है।

खेद है कि उनके अनुयाईयों में भी संस्कृत विद्या के अनुपम विद्वान् नहीं हैं। उनका काम अंग्रेजी मात्र में होने से वे पिछड़ रहे हैं।

मिश्रित संस्कृति—इस वाद के गुंजाने वाले ब्राह्म समाजी, गान्धीवादी और इण्डियन नैशनल कांग्रेसी हैं। पर उनमें कोई विद्वान् उत्पन्न नहीं हो रहे। उनमें इतिहास जानने वाले भी नहीं हैं। अतः उनका प्रभाव क्षणिक रहेगा। अंग्रेजी मात्र जानने से भारत में वे पनपेंगे नहीं।

भारतीय प्रभाव—इस युग की दीन, हीन और असहाय अवस्था में भी भारतीय संस्कृति ने संसार पर कई अंशों में अपनी छाप दी है। सर विलियम जोन्स ने संवत् १८४० में शकुन्तला नाटक का अंग्रेजी में अनुवाद किया। यह अनुवाद दूर-दूर तक फैला। शीघ्र ही जर्मन, फ्रैञ्च आदि अनेक योरोपीय भाषाओं में इस ग्रन्थ के अनुवाद हुए। कालिदास की प्रसिद्धि से भारत की प्रसिद्धि हुई।

संस्कृत भाषा की उत्कृष्टता का संसार को ज्ञान हुआ।

पञ्चतन्त्र भी ऐसा ही ग्रन्थ है। उसका इतिहास पहले लिख चुके हैं।

संसार की अनेक वर्तमान भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ और लोगों ने इससे भूरि लाभ उठाया और उठा रहे हैं।

गीता का प्रभाव—गीता और जर्मन कुमारी की घटना पूर्व संख्या १२६ के अंतर्गत लिखी जा चुकी है। प्रसिद्ध अमेरिकन लेखक ईमर्सन पर उपनिषदों और गीता का गहरा प्रभाव था। कर्नल आल्काट ने एक ऐसे आदमी की कथा लिखी है जो भूगर्भ की एक खान में कुछ पढ़ रहा था। वह अपने विश्राम का काल अध्ययन में लगा रहा था और आॅल्काट महाशय के पूछने पर उसने उत्तर दिया, गीता पढ़ रहा हूँ। संसार की सत्तर से अधिक भाषाओं में इस ग्रन्थ के अनुवाद उपलब्ध होते हैं। श्री कृष्ण का गीत लाखों हृदयों को तृप्ति देता है।

भारतीय संस्कृति ने योरोप से टक्कर ले ली है। वह विजयी हो कर ऊपर आ रही है। यद्यपि इस समय दशा अधिक उत्साहवर्धक नहीं, तथापि भारत का स्वराज्य निस्सन्देह कभी न कभी इस में सहायक होगा और अगला रूप भविष्य बतायेगा।

———
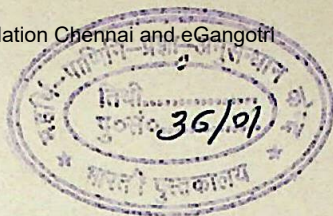
तीसवां अध्याय

वर्तमान स्थिति में वैदिक संस्कृति के प्रति निरुत्साहकर तथ्य

१. आर्य परिवारों में वैदिक संस्कार-प्रथा अति शिथिल हो रही है। इस प्रकार वर्णाश्रम मर्यादा का बहिष्कार किया जाता है।
सायं प्रातः सन्ध्या आदि न करके सायं समय क्लबों में जाकर अनेक अंग्रेजी पढ़े अपने समय का यथार्थ लाभ प्राप्त न कर जीवन नष्ट करते हैं
२. संस्कृत-विद्या का ह्रास चरम सीमा पर पहुँच रहा है। अपिच भाषा-तत्त्व को न समझकर अपभ्रंश भाषाओं के वृथा प्रसार का यत्न किया जा रहा है। भोली प्रजा पागलों के समान इसी ओर झुक रही है।
३. विज्ञान-प्रसार के छल से अंग्रेजी का महत्त्व वृथा बढ़ाया जा रहा है। अंग्रेजी सदृश अति विकृत भाषा को सदा स्थिर रखने का प्रबल यत्न हो रहा है।
४. एक भाषा के स्थान में देश बहु-भाषी बन रहा है।
५. आलस्य और प्रमाद के कारण सरकारी कर्मचारी अंग्रेजी से चिमट रहे हैं। वह उनकी प्रेयसी बन रही है। यह देश-द्रोह है, ऐसा उन्हें अनुभव भी नहीं होता।
६. अर्ध-नग्ना नारियाँ अंग्रेजी बोलकर अपनी उच्चता का प्रमाण देना चाहती हैं।
७. वैदिक संस्कृति से अनभिज्ञ होने के कारण एक सर्वथा विकृत और नई संस्कृति उत्पन्न किए जाने का प्रयास हो रहा है। इसे मिश्रित (composite) संस्कृति का नाम दिया गया है।
८. शिखा-सूत्र की महत्ता ओझल-सी हो गई है।
९. गो-ब्राह्मण का तिरस्कार और परम अनादर हो रहा है। गो-दुग्ध नाम-मात्र की बात होने वाली है।
१०. यज्ञ की महिमा लुप्त-प्राय हैं। अपिच बहुधा संन्यासी यज्ञ कराते और ब्रह्मचारी विवाह पढ़ाते देखे जाते हैं।

११. यज्ञ में मन्त्रपाठ महाभ्रष्ट होता देखा जाता है । अशुद्ध मन्त्रपाठ से लोग अपने को कृतार्थ मानते हैं ।

१२. संस्कृति का आधार धन, धान्य, ऐश्वर्य, विद्या, चरित और तप होता है । इन सब का अभाव होता चला जा रहा है ।

१३. धनाभाव और परम मंहगाई सामान्य प्रजा का रक्त चूस रही है । इस विषय में शासक वर्ग निर्लज्ज और धृष्ट हो चुका है । इस भुखमरी में संस्कृति डूब रही है ।

१४. चाटुकार (=चापलूस), असत्य भाषी, छली, कपटी लोलुप, कृष्ण-व्यापार करने वाले दुश्चरित्र लोग पदे-पदे दिखाई दे रहे हैं ।

१५. संसार का शासक-वर्ग पहले भी अधिक सत्यभाषी नहीं था, पर भारतीय शासक सत्यभाषण और सत्याचरण का ध्यान रखते थे । आज यहाँ के पर्याप्त शासक-वर्ग ने भी असत्य भाषण का ठेका ले लिया है ।

१६. अधिकांश अध्यापक वर्ग और शिक्षा-प्रवन्धक, जिन पर जाति-निर्माण का भार है, छात्रों के सम्मुख आदर्श जीवन का नमूना रखने में असमर्थ हो रहे हैं ।

१७. छात्रों में सादगी के स्थान में शौकीनी बढ़ रही है । और धनी वर्ग इस प्रवृत्ति में अपना गौरव समझता है ।

१८. ब्रह्मचर्य अवस्था में रहने वाले अनेक अल्प वयस्क बालक और बालिकाएँ चलचित्रों के अश्लीलपन में रंगे जा रहे हैं । चलचित्रों के परम अश्लील विज्ञापन साधु पुरुषों और बालक-बालिकाओं को भी दुश्चरित्रता का पाठ पढ़ाने के प्रयास में हैं ।

१९. ईसाई स्कूलों की भरमार जितनी अंग्रेज के शासन-काल में नहीं थी, उतनी अब हो रही है ।

२०. ऋषि-मुनियों के आदेश का उल्लंघन करके सह-शिक्षा के हो जाने से अब भारत में वे दुष्परिणाम निकलने आरम्भ हो चुके हैं, जो योरोप और अमरीका में भयंकर रूप में प्रकट हो रहे थे ।

२१. आचार का आदर्श गिर चुका है । पतलून पहनने के कारण, योरोप के अनुकरण पर शतशः लोग पशुवत् खड़े-खड़े मूत्र-त्याग कर रहे हैं । वे यह नहीं सोचते कि पशु तो मल-त्याग भी खड़े खड़े ही करते हैं ।

२२. पचास प्रतिशत परिवारों के दाम्पत्य जीवन में कलह का साम्राज्य है । अनेक नव-विवाहिता अबलाएं आत्महत्या कर रही हैं ।

२३. स्त्रियाँ छाती को विना पूरा ढाँपे वाजारों में अपनी घृणित शोभा दिखाने का पुरुषार्थ करती रहती हैं।

२४. उत्कोच=घूस का वाजार गरम है। और घूस लेने वाले छाती तान कर फिरते हैं।

२५. कार्ल-मार्क्स और तदनुयायियों के दूषित विचारों के प्रचार के कारण अनेक भृत्यवर्ग और श्रमजीवी इहलोक को ही सब कुछ मानकर बहुधा कर्तव्यच्युत हो रहे हैं। उनमें असत्य-भाषण का व्यवहार अत्यधिक बढ़ रहा है।

२६. त्याग का भाव स्वप्नवत् हो रहा है।

२७. शिल्प में अनेक विदेशी हीन-आदर्श अपनाये जा रहे हैं।

२८. संगीत के अध्ययनाध्यापन का प्राचीन-ढंग दृष्टि से दूर हो रहा है।

२९. शासक वर्ग अंग्रेजों के मायाजाल में पूर्णतया फँसा हुआ है। और राजनीतिक अंग्रेज कपट-रूप से वैदिक संस्कृति का संसार में सब से बड़ा विरोधी है।

३०. वर्तमान स्वतन्त्र भारत के ५० से ऊपर सम्पूर्ण विश्वविद्यालयों में भारतीय इतिहास और वेद का अध्यापन दूषित, तर्कहीन, अविद्याग्रस्त पाश्चात्य पद्धति से हो रहा है। ईसाई गुट के उच्छिष्ट-भोजी अध्यापक इसी में अपना गौरव मानते हैं।

३१. अंग्रेज प्रजा भली और सहृदया है, पर कूटनीतिक अंग्रेज सर्वथा दूसरे प्रकार का है। उसी ने मिथ्या 'भाषा-विज्ञान' बनवाकर संस्कृत का महत्त्व घटाया है, उसी ने सत्य भारतीय इतिहास के विरुद्ध कल्पित इतिहास लिखवाकर सत्य को पददलित करने कराने का जघन्य यत्न किया है, उसी ने सर्वज्ञानमय वेद को एक साधारण ग्रन्थ की श्रेणी में ला रखने का प्रयास किया है, उसी ने ऋषि-मुनियों के असाधारण और दिव्यजीवन को साधारण जीवन कहकर, डार्विन आदि नए कृत्रिम ऋषियों की कल्पना खड़ी की है, उसी ने इस्लामी देशों को pan-Islamic भावनाओं से ओत-प्रोत किया, और तद् द्वारा भारत में हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य बढ़ाया, उसी ने भारत पर अपने शासन काल के दिनों में प्रति दस वर्ष पर होने वाली जनगणनाओं के समय मुस्लिम जन-संख्याओं को छल से और झूठे रूप से बढ़ाने की योजना सज्जित की और मुसलमानों को सिखाई, उसी ने पाकिस्तान का रंग रूप बनवाया है, वही पाकिस्तान के छल

और अनृत-कथनों पर कभी अपनी वाणी नहीं खोलता, और उसी ने ईसाई पादरियों को भारत में धकेलने का षड्यन्त्र प्रारम्भ कराया है।

राजनीतिक अंग्रेज के कुकृत्यों की सूची बहुत लम्बी है, पर अधिक न लिखकर हम विद्वानों पर उसकी आलोचना छोड़ते हैं। इस प्रकार अंग्रेजों ने वैदिक संस्कृति को भारी धक्का दिया है और उस मार्ग पर चलने वाले अनेक अंग्रेजी पढ़े अब भी काम कर रहे हैं।

३२. भार को तोलने और लम्बाई के मापने आदि के कामों के लिए किलोग्राम आदि विदेशी शब्दों की भरमार का भारतीय मस्तिष्कों पर लादने का वृथा आडम्बर किया गया है। समाजवाद के प्रचारक हैरल्ड लास्की की शिक्षा है कि किसी देश की संस्कृति को नष्ट किए बिना समाज का नव-निर्माण नहीं हो सकता। अतः वैदिक संस्कृति के नाश के लिए ऐसे कार्य-क्रम अपनाए जा रहे हैं।

भगवान् की महती अनुकम्पा, परम कृपा, और आनन्दमयी दया हो, कि भारतीय संस्कृति फिर हरी-भरी होकर मानव-जीवन की यात्रा को सुखी बनाने में सहायक हो।

ग्रन्थकार

भगवद्दत्त का जन्म पञ्जाबान्तर्गत अमृतसर नगर में सन् १८९३ की २७ अक्तूबर को एक आर्य परिवार में हुआ। इनकी माता का नाम हरदेवी और पिता का नाम चन्दनलाल था। भगवद्दत्त का उपनयन संस्कार आठवें वर्ष में हुआ और पहली शिक्षा अमृतसर के सरकारी स्कूल में हुई। तत्पश्चात् लाहौर के दयानन्द एङ्ग्लो वैदिक कालेज से एफ. एस. सी. सन् १९१३ में और बी. ए. सन् १९१५ में किया। १९१५-२१ तक इसी कालेज प्रोफेसर रहे। जून सन् १९२२ में भगवद्दत्त ने विदुषी सत्यवती विवाह किया। श्रीमती सत्यवती लाहौर व महिलाओं व सरका संस्कृत की प्रधानाध्यापिका रही हैं। १९२१-३४ तक दयान जीवन सदस्य की श्रेणी के प्रोफेसर रहे। दयानन्द कालेज का लिखित ग्रन्थों का पुस्तकालय उन्ही के सतत परिश्रम का फल उन्होंने वैदिक वाङ्मय का इतिहास ग्रन्थ के तीन भाग प्रका इन ग्रन्थों से उनकी ख्याति अन्तर्राष्ट्रिय हो गई। उनके अति विस्त की छाप संसार के संस्कृत विद्वानों पर पड़ी। पञ्जाब सरकार पुरस्कार से विभूषित किया। पञ्जाब सरकार के सर्वोच्च प्रद जान मेनार्ड और सर डि. माण्ट मोरेंसी उनके अनुसन्धान के प्रभावित हुए। सन् १९३४ में दयानन्द कालेज से उन्होंने सम्बन्ध लिया। कालेज के अधिकारी उनकी सत्य-प्रियता और स्पष्टवा रहने लगे थे।

सन् १९४० में उन्होंने भारतवर्ष का इतिहास लिखा। इस ईसाई अध्यापकों की कल्पित धारणाओं का प्रबल खण्डन था प्रोफेसरों ने उनके लेखों को ओझल करने का गुप्त प्रयत्न १९४७ में अंग्रेजों की कूटनीति के कारण भारत का विभाजन हुआ ने अपना केन्द्र दिल्ली में बनाया। दिल्ली में आई. ए. एस. श्रेणी प्रतिवर्ष भारतीय संस्कृति पर व्याख्यान दिए। दिल्ली में पंजाब वि के कैम्प-कालेज में वे प्राध्यापक रहे और पञ्जाब विश्व० की वर्ष सदस्य रहे। यहीं दिल्ली से भारतवर्ष का बृहद् इतिहास के शित हुए। सन् १९६२-६३ में उत्तर प्रदेश सरकार ने बृहद् इतिह भाग पर २५००) रु० का नरेन्द्रदेव पुरस्कार भेंट किया। इसी क वेद-विद्या निदर्शन नामक अभूतपूर्व ग्रन्थ प्रकाशित किया। वैदि गम्भीरतम संकेत इस ग्रन्थ में पहली वार लिखे गए हैं। पेरिस के प्रो० लुई-रिनों ने उनके लेखों के कारण यह लिखा है, मन्त्रों में विज्ञान का निदर्शन है। इनका एक और ग्रन्थ भाषा का भूरिख्याति प्राप्त कर रहा है।

भगवद्दत्त असत्य का विरोधी, वेद का अभ्यासी और सादगी उस की वाग्मिता और स्मृति शक्ति सुविख्यात है और उसकी वाग पान श्रोता मुग्ध होकर करते हैं। वह सौभाग्यशाली विद्वान् है, भाषा में लिखे ग्रन्थ भी संसार के अनेक देशों में आदर प्राप्त कर